शंकरदेव और तुलसीदास की वैचारिक भावभूमि

डॉ. [illegible]

भारतीय संस्कृति परिषद्

शंकरदेव और तुलसीदास की वैचारिक भावभूमि

डॉ. भूपेन्द्र रायचौधरी

एम. एस-सी, एम.ए., प्रवीण,

साहित्यरत्न, विद्यालंकार, पीएच. डी

रीडर, हिन्दी विभाग,

गौहाटी विश्वविद्यालय

भारतीय संस्कृति परिषद्

गुवाहाटी–७८१००६

असम

Sankardeva aur Tuls dasa kee vaic iank Bhavabl
parative study of the thoughts of Sankardeva and T
Bhupendra Roychoudhury, Reader, Department of Hin
versity, Guwahati-- 781014 (Assam).

प्रकाशक : भारतीय संस्कृति परिषद्
गुवाहाटी-७८१००६

वितरक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२/३५, अंसारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली-११०००२
असम हिन्दी प्रकाशन
केदार रोड, गुवाहाटी-७८१००१

प्रथम संस्करण : अगस्त, 1997

मूल्य : 150 रुपये

मुद्रक :
होरीज़न प्रिंटर्स
१४८८, पटौदी हाउस, दरिया गंज,
नई दिल्ली-११०००२

निवेदन

भारतीय चिन्तनधारा के विकास का मूल सूत्र सनातन काल से ही 'एकंसदाविप्रा बहुधा वदन्ति' रहा है। आसेतु हिमाचल भारतभूमि जितनी सांस्कृतिक सुषमा की विविधता एवं रंगीनियों से परिपूर्ण है, उतनी ही मानवीय आचार-विचार, वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन की दृष्टि से भी। विद्वानों की मान्यता है कि वर्तमान भारतीय संस्कृति के निर्माण में आर्य, द्रविड़, निषाद और किरात- इन चार प्रमुख तत्त्वों को पारस्परिक समन्वयन का योगदान रहा है। विभिन्न प्रान्तों एव उनमे बोली जानेवाली विभिन्न भाषाओ में ऊपरी भिन्नता के बावजूद उनके साहित्यों मे अंकित भाव और विचार एवं उनमे पनपी सांस्कृतिक सरणि प्राय. एक ही है। तभी प्रान्त अथवा भाषा विशेष का साहित्य भारतीय साहित्य की आख्या पाता है। वस्तुत भारतवर्ष संस्कृति का प्रयोग क्षेत्र है। इसमें सांस्कृतिक तत्त्वों की व्यावहारिकता का विश्लेषण, प्रमाणीकरण का स्थापन होता आ रहा है। फलत भारतीय साहित्य युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप किसी नायक अथवा भाव विशेष को वर्ण्य-विषय के रूप में उपस्थित करता रहा है जिससे रचना तो अमर हुई ही है, समाज और लोकरुचि को भी नया क्षितिज प्राप्त हुआ है।

देश के एक कोने में आरंभ हुआ प्रत्येक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन चाहे वह सामाजिक रहा हो अथवा सांस्कृतिक, सदा राष्ट्रव्यापी हुआ है। उसका प्रभाव सारे देश के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर पड़ा है। उदाहरणत: मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन को ही लिया जा सकता है-- जिसकी स्वर लहरी सारे देश मे गूँज उठी थी। उस आन्दोलन में उन महान विभूतियों का अपूर्व योगदान रहा जिन्होने राष्ट्रीय स्तर पर उसे दिशा दी एवं गतिशील बनाया। यद्यपि उनकी भावना मुख्यत प्रान्तीय भाषाओं में ही लिपिबद्ध हुई है, तथापि यह निश्चय है कि उनके मूल स्वर मे कहीं अंतर नहीं पड़ा है। मध्यकालीन असमिया भक्त-कवि शंकरदेव और हिन्दी भक्त-कवि गोस्वामी तुलसीदास उक्त आन्दोलन को नवीन गति प्रदान करनेवालों मे प्रथम पांक्तेय हैं। यद्यपि दोनों दो भिन्न-भिन्न भाषाओं के कवि हैं, दोनों के कार्य क्षेत्र अलग-अलग और दूर-दूर रहे हैं, तथापि दोनों की रचनाओ में व्यक्त भाव और विचार उनकी एकता के परिचायक हैं। उनकी रचनाएँ विविधताओं में एकता के भारतीय सूत्र का यथार्थ उदाहरण प्रत्यक्ष करती हैं।

भारतवर्ष की आत्मा को समझने के लिए प्रान्तीय साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। इसका व्यावहारिक पहलू तुलनात्मक अध्ययन है। वस्तुत· अपने देश का वास्तविकपूर्ण चित्र प्राप्त करने के लिए केवल मात्र प्रादेशिक अध्ययन पर्याप्त नहीं है बल्कि विस्तृत ऐतिहासिक और अनिवार्य है

आज हमारे देश में भावात्मक एकता पर अधिक महत्त्व दिया जा रहा है इसके लिए आवश्यक है हम इस देश के हर प्रान्तीय साहित्य एवं संस्कृति से परिचित होकर आपसी सद्भावना को सुदृढ़ बनाएँ। महापुरुष शंकरदेव के जीवनादर्श से हमें यही संदेश प्राप्त होता है। असम में राष्ट्रीय एकात्मकता की भावना मध्ययुग में सर्वप्रथम उन्होंने ही पनपायी। उनकी रचना में संकीर्ण प्रादेशिकता सर्वथा अभाव है। इस संदर्भ में डॉ. बिरिंचि कुमार बरुआ की मान्यता है-- ''The conception of India as our mother country was conceived by Sankardeva five centuries ago. He wanted the people to feel proud of being born in this holy country of Bharatavarsha, as she provides an immense opportunity for development of man's moral and spiritual potentialities. Repeatedly did he emphase the glorious and spritual experiences of India. In many of his verses he spoke of the great heritage of this country Bharatavarsha

धन्य धन्य कलिकाल धन्य नर तनु भाल
धन्य धन्य भारतवरिषे।''

वस्तुत: शंकरदेव ने ही मध्ययुग में असम के निवासियों को नयी चेतना प्रदान की थी। कामरूप से कन्याकुमारी तक भ्रमण करके असम को भाषिक, सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टि से शेष भारतवर्ष के साथ जोड़ने का श्रेय शंकरदेव को ही है।

वैष्णव भक्ति आन्दोलन के अन्य एक युगपुरुष तुलसीदास की जनप्रियता भी इसीका द्योतक है कि उनकी विचारधारा ने लाखों को अनुप्राणित किया है। डॉ. सर जार्ज गियर्सन ने उनकी रचना 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता का आकलन करते हुए लिखा है- " The book is in everyone's hands from the court to the cottage, and is read or heard and appriciated alike by every classes of the Hindu Community, whether high or low, rich or poor, young or old.' प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन (1975 ई.) के नागपुर अधिवेशन में भाग लेनेवाले फिजी, मारिशस आदि के भारतीय मूल के प्रतिनिधियों ने गर्व के साथ यह दोहराया था कि भारतवर्ष एवं भारतीय संस्कृति के साथ उनके संलग्न रहने का माध्यम केवल तुलसी कृत 'रामचरितमानस' ही रहा है। अत: तुलसी कृत 'मानस' का महत्त्व स्वत: स्पष्ट है।

आज सारे देश मे विघटनकारी तत्त्व बढ़ रहे हैं। भाषा, प्रान्त, जाति आदि के भेद के नाम पर देश को खण्डित करने के कुचक्र चलाने की प्रचेष्टा बलवती-सी हो रही है। हम इस बात को भूलते से दिखाई पड़ते हैं कि राष्ट्रीय अस्मिता समाप्त होने पर राष्ट्र ही नहीं व्यक्ति भी महत्त्व शून्य हो जाता है, चाहे वह नर रूपधारी नारायण ही क्यों न हो। अत: राष्ट्र की इस भयावह परिस्थिति से उबरने के लिए

)

तुलनात्मक अध्ययन स्वत: अनिवार्य हो जाता है, जिससे उन समान भावों-विचारो का सूत्र स्थापित किया जा सके, जिनका सम्बल पा यह पुरातन राष्ट्र भयानक झझावातों मे अडिग रह सके। श्रीमंत शंकरदेव और तुलसीदास की विचारधाराओ का तुलनात्मक अध्ययन न केवल भक्ति आन्दोलन जन्य असमिया और हिन्दी कविताओं को समग्रता मे समझने की दृष्टि से आवश्यक है, बल्कि तत्युगीन समग्र राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना को जानने-परखने की दृष्टि से भी उपयोगी है। इस विश्वास को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के इस कथन से और बल मिलता है-- "भारतवर्ष का मध्यकालीन साहित्य वस्तुत: समूचे भारतवर्ष का एक ही साहित्य है, प्रान्तवार बॅटा हुआ विभिन्न बोलियों का नहीं।"

प्रस्तुत शोध-प्रबंध शंकरदेव और तुलसीदास की विचाधाराओं पर केन्द्रित है। विषय का चुनाव सहेतुक है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए दोनों की कृतियों का मूल्यांकन न करके उनकी विचारधाराओं पर विवेचन करने का कारण है विषय की मौलिकता, अध्ययन की नवीनता और प्राथमिकता, राष्ट्र की भावात्मक और सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से भाविक और वैचारिक समानता, पिष्टपेषण और पुनरावृत्ति से बच कर विषय के साथ न्याय किया जा सके। अत:, विभिन्न अध्यायो मे दोनो भक्त-कवियों की दार्शनिक, भक्ति, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक, राजनैतिक तथा काव्य विषयक विचारधाराओं पर विवेचन किया गया है।

इसमें दो मत नहीं है कि मध्ययुगीन असमिया मे शकरदेव पूर्व एवं पश्चात् कई कवि हुए है। उनकी रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण है। उनके बावजूद शकरदेव के साहित्य ने कुछ ऐसे अनमोल भाव और विचार दिए कि वे वर्तमान असम के पिता तक घोषित हुए। असम की अनगिनत जनता ने उन्हें न केवल धर्म गुरु और धर्माचार्य बल्कि भगवान तक मान लिया है। स्पष्ट है कि इन सब के मूल मे उनकी विचारधारा ही रही है जिसे विभिन्न रचनाओं के माध्यम से उन्होंने प्रस्तुत किया है। अत:, प्राथमिक महत्त्व की वस्तु कृतियाँ नहीं, बल्कि उनमे व्यक्त विचार ही हैं। उनकी वैचारिक मौलिकता के कारण ही असमिया साहित्य का वैष्णव युग शंकरी युग के नाम से भी जाना जाता है। उनकी विचारधारा का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि भौतिकता के जगरमगर से चकाचौध आधुनिक युग तक में भी उनकी छाया-प्रतिछाया पर साहित्य सृजन जारी है। असम को समग्रता में समझने के लिए पहली आवश्यकता है शंकरदेव की विचारधारा को जानना-समझना। इसलिए आवश्यक नहीं कि शंकरदेव और उनकी देन को समग्रता में समझने के लिए उनकी विचारधारा को ही समझना पहली आवश्यकता है।

जहाँ तक गोस्वामी तुलसीदास की बात है, न केवल हिन्दी भक्ति-साहित्य मे बल्कि मध्ययुगीन समस्त भारतीय मे उनके द्वारा किये गये वैचारिक

अन्वय-संयोजन-समन्वयन का विशिष्ट महत्त्व है। फलतः उनका ग्रंथ 'रामचरितमानस' उत्तर भारतीय हिन्दू जन-जीवन में ऐसा ही स्थान बना सका जैसा समस्त ईसाई जगत में बाईबिल को प्राप्त है। वैचारिक वैशिष्ट्य के कारण ही वह आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित राम कथात्मक रचनाओं (रामायणों) मे श्रेष्ठ कृति बन गई है। राजनैतिक दृष्टि से पराधीन, सामाजिक दृष्टि से हताश और धार्मिक दृष्टि से विशृंखल और विच्छिन्न एवं पंथ-उपपंथो में विभक्त मध्ययुगीन उत्तर भारतीय हिन्दू जीवन को सब प्रकार से अन्वित-सयोजित और उत्साहित करने की दृष्टि से तुलसी ने जिस नैतिक, भाविक और बौद्धिक विचारधारा को पनपाया एवं अपनी विभिन्न रचनाओं के माध्यम से व्यक्त किया, निश्चय ही वह न केवल धार्मिक; बल्कि सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से भी नवीन राष्ट्रीय चेतना को पनपाने में समर्थ बना।

वस्तुतः मध्ययुगीन असम में जो महत्त्वपूर्ण कार्य शंकरदेव की विचारधारा ने सम्पन्न किया, प्रायः ऐसा ही कार्य उत्तर- भारत में तुलसीदास की वैचारिक क्रान्ति के कारण संभव हुआ। दोनों की दृष्टि में कृतियाँ तो साधन मात्र हैं, साध्य है उनमे व्यक्त विचारधारा ही। अतः, प्रस्तुत अध्ययन शंकरदेव और तुलसीदास की विचारधाराओं के तुलनात्मक अध्ययन तक सीमित है। तुलनात्मक विवेचन होने के कारण ही यह विचारधाराओं के विकास मूलक अथवा प्रभावमूलक अध्ययनों से स्वत भिन्न हो गया है। इस अध्ययन का उद्देश्य महापुरुष शंकरदेव अथवा गोस्वामी तुलसीदास की विचारधाराओं में से किसी एक की विचारधारा को श्रेष्ठ अथवा हीन शाश्वत अथवा अशाश्वत, उन्नत अथवा अवनत, उपयोगी अथवा अनुपयोगी इत्यादि प्रमाणित करना नहीं है। भारतीय जीवन की बाहरी विविधता में सांस्कृतिक और वैचारिक दृष्टि से आभ्यंतरीन एकता के समान सूत्रों के संधान और संयोजन की दृष्टि से ही यह अध्ययन किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन तुलनामूलक है, वैषम्यमूलक नहीं। अतः, अस्वाभाविक नहीं सम एवं प्रायः सम-सी प्रतीत होने वाली वैचारिक तुलनीय इकाइयों को अधिक महत्त्व मिला है, विषम को नहीं। यो, साम्य के प्रतिपादन के क्रम में कहीं-कहीं वैषम्यमूलक विचार भी कार्य-कारण रूप में आ अवश्य गये हैं, पर विचारधाराओं का वैषम्यमूलक अध्ययन अपने आप में एक स्वतंत्र अध्ययन का विषय है।

एक बात और। अपने विषय का यह चूँकि प्रथम अध्ययन है, इसलिए विवेचन पद्धति मूलतः तथ्यपरक और वर्णनात्मक ही अधिक रही है। आलोच्य कवियो की विचारधाराओं के उद्घाटन, समान महत्त्व के विचारों का तुलनात्मक प्रमाणीकरण और तदनन्तर कतिपय निष्कर्षों पर पहुँचना और तद्संबंधी मूल्याकन ही इस अध्ययन का मूल दृष्टिकोण रहा है

)

यह ग्रंथ मूल रूप मे गौहाटी विश्वविद्यालय की पीएच डी उपाधि के लिए श्रद्धेय गुरुवर डॉ कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' जी के निर्देशन में लिखा गया शोध-प्रबध है। प्रो. मागध जी ने अपने उदार दृष्टिकोण के अनुरूप अनुसधानकार्य मे मुझे मुक्त रूप से अग्रसर होने के लिए बढावा दिया एवं अपने अनुभव सिद्ध परामर्शो से मेरी उलझनों को जिस प्रकार सुलझाया, यह अध्यापक से अधिक 'गुरु' का ही कार्य हो सकता है। वैष्णव साहित्य के मर्मज्ञ प्रो. मागध जी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए मुझे शब्द नहीं मिल रहे हैं। उनके स्नेह धन्य होने का जो गौरव मुझे प्राप्त है, उसके लिए मेरे रोम-रोम उनके प्रति कृतज्ञ है।

अपने शोध-कार्य के दौरान मुझे स्वर्गीय डॉ जितेन्द्र नाथ खाओन्द, रीडर हिन्दी विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय का अपार स्नेह-प्रोत्साहन मिला था। अध्ययन की परिणति ग्रंथ के रूप में देखकर उन्हें अपार हर्ष होता। पर, आज वे स्मृति शेष मात्र रह गये हैं।

पांडुलिपि पर दृष्टि डालकर मेरे सहकर्मी मित्र डॉ विवेक कुमार श्रीवास्तव, रीडर, हिन्दी विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय ने मुझे कृतज्ञता-पास में बांध लिया है।

अत में पुन एक बार दुहराना चाहता हूँ कि यह अध्ययन शकरदेव और तुलसीदास की वैचारिक भावभूमि को देखने-परखने का प्रयास मात्र है। पहली बार ऐसा होने पर काफी सीमाएँ रह गयी हैं। यदि इस अध्ययन से दोनो महान् सतो को समझने-परखने में सहृदय पाठकों को किंचित् भी सहायता मिलती है, तो मै अपने परिश्रम को सार्थक समझूँगा।

95, गौहाटी विश्वविद्यालय
आवासीय परिसर
गुवाहाटी- 781014 (असम)

भूपेन्द्र रायचौधरी

अनुक्रमणिका

निवेदन i-v

प्रथम अध्याय 1-38

व्यक्तित्व-कृतित्व एवं पीठिका

शंकरदेव : जीवन और व्यक्तित्व-शंकरदेव की रचनाएँ-शंकरदेवकालीन परिस्थितियाँ-राजनीतिक-सामाजिक-धार्मिक-साहित्यिक-सांस्कृतिक- तुलसीदास : जीवन और व्यक्तित्व- तुलसीदास की रचनाएँ- तुलसीदासकालीन परिस्थितियाँ- राजनीतिक-सामाजिक-धार्मिक- साहित्यिक- सांस्कृतिक- निष्कर्ष।

द्वितीय अध्याय 39-60

दार्शनिक विचारधारा

ब्रह्म : ब्रह्म का स्वरूप- ब्रह्म का विराट रूप- विरुद्ध धर्माश्रयत्व- अद्वैत निर्गुण ब्रह्म- आनन्द स्वरूप सगुण ब्रह्म- अवतार धारण- विष्णु रूप ब्रह्म : विष्णु कृष्ण एवं विष्णु राम- भक्त-वत्सल भगवान- जीव- जगत् और संसार- माया- मोक्ष और मोक्ष साधन- निष्कर्ष।

तृतीय अध्याय 61-90

भक्ति विषयक विचारधारा

भक्ति की महत्ता- भक्ति की सहजता- भक्ति के साधन- भक्ति के बाधक तत्त्व- भक्ति के भेद- भक्ति का साधन क्रम- श्रवण-कीर्तन-स्मरण- पादसेवन- अर्चन-वंदन- भगवान और भक्त की मनोभूमि- शान्ता भक्ति- दास्या भक्ति- सख्य भक्ति- वात्सल्य भक्ति- मधुरा भक्ति- भक्ति के अधिकारी- भक्त - आदर्श भक्ति भाव- निष्कर्ष।

चतुर्थ अध्याय 91-116

धार्मिक विचारधारा

तत्युगीन ह्रासोन्मुखी धार्मिक चेतना- वैदिक कर्मकांड- तीर्थ-व्रतादि- तांत्रिक आचार- धर्माड़म्बर- पथ विरोध- आदर्श धर्मिक जीवन के प्रतिमान-युगधर्म : नामधर्म- संत सगति गुरु- धर्माड़म्बर का त्याग धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय धर्म का

नैतिक आधार एक देव धार्मिक उपासना और पंथिकता उपास्यदेव उपासना का स्वरूप पंथिक वैशिष्ट्य निष्कर्ष

पंचम अध्याय 117-150

सामाजिक और आर्थिक विचारधारा

समकालीन ह्रासोन्मुखी समाज- सामान्य जन-जीवन- वर्ण- नैतिकता- अर्थ लोलुपता- दैनन्दिन उपकरण- रीति-रिवाज और आचार-व्यवहार- अभिवादन- शिष्टाचार- भोजन- उपालंभ- संस्कार- गर्भाधान- जातकर्म- नामकरण- कर्णवेध- चूडाकर्म- उपनयन- विवाह- शंकरी साहित्य में : उरुलि-अधिवास-मुखचन्द्रिका- केशबंधन- कुसुम-शैय्या- तुलसी साहित्य में- अन्त्येष्टि संस्कार- पर्व-त्यौहार-लोकविश्वास- मनोरंजन- प्रसाधन और वस्त्राभूषण- आदर्श कल्पना- परिवार- समाज- अर्थ- निष्कर्ष।

षष्ठ अध्याय 151-181

राजनैतिक विचारधारा

तत्कालीन राजनीति- राजा- प्रजा- राजनैतिक आदर्श- राजनीति का आधार राजधर्म- मंत्री परिषद्- पुरोहित- राष्ट्र का भूभाग . ग्राम और नगर- राजकोष- दण्ड और न्याय- युद्ध और योधन नीति- युद्ध के प्रकार- युद्ध मंत्रणा- दूत और गुप्तचर- अस्त्र-शस्त्र और वाहन- सेना और संचालन- योधन नीति- आदर्श राजा- आदर्श प्रजा और राजा के साथ उसका सम्बन्ध- आदर्श राज्य- निष्कर्ष।

सप्तम अध्याय 182-203

काव्य विषयक विचारधारा

काव्य-लक्षण- काव्य का कर्ता : कवि- काव्य का ग्रहीता- काव्य की आत्मा- तुलसी का वैशिष्ट्य- काव्य-प्रयोजन- काव्य-हेतु- देव कृपा- गुरु कृपा- शास्त्र अध्ययन- काव्य वर्ण्य- काव्यांग- काव्य रूप- निष्कर्ष।

अष्टम अध्याय 204-208

उपसंहार

परिशिष्ट 209-216

ग्रंथ-सूची

प्रथम अध्याय

व्यक्तित्व-कृतित्व एवं पीठिका

महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव (1449-1568 ई.) और गोस्वामी तुलसीदास (1532-1623 ई.) भारतीय मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन की महान विभूतियों मे से है। दोनों वैष्णव भक्त, विचारक और कवि थे। उनकी विचारधाराओं ने न केवल तत्कालीन समाज में नयी चेतना दी, बल्कि जिस विचार-आलोक को उन्होंने प्रकट किया वह किसी न किसी रूप में आज भी करोड़ों व्यक्तियों के अंधकारच्छन्न मार्ग को आलोकित कर रहा है। अत:, यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि ऐसी कौन-सी स्थितियाँ रही हैं, जिनके कारण उनके विचार विकसित हुए, निजी वैचित्र्य से युक्त हुए और मध्ययुगीन विभिन्न संतों-भक्तों तथा सामाजिक-राजनैतिक विचारकों के विचारों की अपेक्षा अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर सके। निश्चय ही वे स्थितिया अधिक महत्त्व की होगी जिनके कारण यह संभव हो सका। अत:, दोनों महान भक्त-कवियों के जीवन-व्यक्तित्व को सामान्य रूप से रेखांकित करके उनकी तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

शंकरदेव :

जीवन और व्यक्तित्व : शंकरदेव के जीवन एवं व्यक्तित्व के संबंध मे अद्यावधि विभिन्न अध्येताओं ने बड़े विस्तार से विचार किया है[1]। अंत:साक्ष्य, बर्हिसाक्ष्य एवं जनश्रुतियों के आधार पर उनके संबंध में प्रत्येक तथ्य का विस्तृत समीक्षात्मक अध्ययन कर आलोचकों ने योग्य निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। उनमें कई दृष्टियों से डॉ. महेश्वर नेओग का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है[2]। अत: पुनरावृत्ति और विस्तार से बचते हुए केवल कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर संकेत किया जा रहा है जिससे उनकी विचारधारा को समझने की दृष्टि से उपयोगी हो सके।

शंकरदेव (1449-1568 ई.) का जन्म मध्य-असम के नगाँव जिले के आलिपुखुरी (बरदोवा) गाँव में हुआ था। इनके पितृ कुसुमवर भुइयाँ शिरोमणि भुइयाँ थे। उनकी प्रथम पत्नी सत्यसन्ध्या से शंकरदेव उत्पन्न हुए। अल्पवयस मे ही इनके माता-पिता का निधन हुआ। लालन-पालन का भार दादी खेरसुती ने संभाला। बचपन का जीवन अपेक्षया अधिक [illegible] और स्वच्छंद रहा उन्होंने बारह वर्ष की अवस्था मे महेन्द्र कन्दलि की [illegible] मे [illegible] शुरू किया और

केवल आठ वर्षों मे ही सब प्रकार के शास्त्रो का अध्ययन पूरा किया उपल साक्ष्यो से स्पष्ट है कि उन्होने मन.योग के साथ शरीर-योग की भी साधना थी। अध्ययनोपरांत विवाह कर वे घर-बारी बने और उन्होंने शिरोमणि भुइया दायित्व संभाला। कुछ दिनों पश्चात् वे एक पुत्री (मनु) के पिता भी बने, किन थोड़े दिनों पश्चात् ही उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। माता-पिता की बचपन हुई मृत्यु को कुछ तो अपने अबोधपन और कुछ दादी से मिले प्यार के कारण यद्यपि बालक शंकर ने भुला दिया था, तथापि इस बार भरी जवानी मे हुई पत्नी की मौत ने युवक शंकरदेव को संभवत: संसार की भंगुरता और नि:सारता की तीव्र अनुभूति प्रदान करने में कोई कसर उठा नहीं रखी। बावजूद इसके वे जल्दीबाजी इसलिए नहीं करना चाहते थे कि नवजात कन्या मनु के लालन-पालन का दायित्व था। अत. वे उस समय तक वैराग्य नहीं स्वीकारते हैं, जब तक मनु का विवाह नहीं करा लेते हैं। अन्तत: मनु के विवाहोपरान्त वे संन्यासी बनकर निकल गये और लगातार बारह वर्षों तक सम्पूर्ण भारत में विभिन्न तीर्थों का भ्रमण करते रहे। तत्पशात् वे अपने ग्राम बरदोवा लौट आये। सगे-सम्बन्धियों एवं मूलत: दादी खेरसुती के आग्रह पर उन्होंने पुर्नविवाह भी किया जिससे उन्हें चार सन्तान भी प्राप्त हुई। यहीं उन्होंने नये सिरे से भागवत आधारित भक्ति शुरू की। आगे उसी का प्रचार-प्रसार उन्होंने जीवन भर किया। इस भक्ति मार्ग में नाम-कीर्तन को अधिक महत्त्व मिला। विष्णु कृष्ण ही एकमात्र देव स्वीकृत हुए। भक्ति का लक्ष्य कृष्ण की शरणता प्राप्त करना हुआ। इन्ही कारणों से यह भक्ति-मत **'एकशरणीया-भागवती नाम धर्म'** कहलाया। नवीन भक्ति-मार्ग का प्रचार सर्वथा और सर्वदा अबाधित नहीं हुआ। कामरूप की तत्कालिक राजनीतिक अस्थिर परिस्थितियों ने एवं शैव-शाक्त एवं तंत्राधारित पारम्परीण पूजा-उपासनाओं ने शकरदेव द्वारा प्रतिपादित सहज वैष्णव भक्ति के प्रचार-प्रसार में अनेक बाधाएँ उपस्थित कीं। परिणामत: शंकरदेव को अपने अनुयायियों सहित अपने राज्य को छोडना पड़ा। कभी आहोम राज्य और कभी कोच राज्य की सीमाओं में भटकना पडा। न केवल मानसिक बल्कि आर्थिक, पारिवारिक और धार्मिक उत्पीड़न सहने पडे। उन्होंने अपनी टोली के साथ दूसरी बार भी तीर्थयात्रा की, पर इस बार की यात्रा पुरी तक ही सीमित रही। अन्तत: विरोधों का शमन हुआ और कोचराज नरनारायण के द्वारा इस भक्ति-मार्ग को राज्य-मान्यता मिली, किन्तु तब तक उनके जीवन की अंतिम संध्या आ पहुँची थी और उन्हें अपना दायित्व माधवदेव के पर सौंपकर इस संसार से विदा हो जाना पड़ा

उनके जीवन से स्पष्ट होता है कि शंकरदेव का व्यक्तित्व अन्त: और बाह्य संघर्षों से निर्मित हुआ था। बालक शंकर माता-पिता को खोकर टूअर बना, उसे उसका समुचित प्यार नहीं मिला। इस अभाव ने ही संभवत: उसे स्नेह के प्रति भूखा बनाया होगा। पुन. योग्य पथ-दर्शन के अभाव में स्वत. मार्ग-संधान करने की स्वच्छन्द प्रवृत्ति, निर्भीकता और संकट में भी अडिग रहने की दृढता भी उत्पन्न की होगी। अध्ययनोपरान्त शंकरदेव का विवाह कर घर-बारी बनना, भुइयाँ का पद सम्भालना जहाँ उनके रागी मन और नेतृत्व क्षमता का परिचायक है, वहीं भरी जवानी में पत्नी-वियोग और नवजात मातृहीना मनु को देखकर अपने शैशव की पुर्नस्मृति एवं तत्परिणामस्वरूप सांसारिक सम्बन्धों की निस्सारता के कारण शंकरदेव के मन में वैराग्य के प्रति आकर्षण होना असंभव नहीं। तीर्थाटन मे शंकरदेव ने गया, काशी, प्रयाग, वृन्दावन, मथुरा, अयोध्या, सीताकुण्ड, बाराहकुण्ड रामह्रद, बदरिकाश्रम, द्वारका से लेकर सुदूर दक्षिण रामेश्वरम् इत्यादि तक भ्रमण किया। भ्रमणकाल में वे सबसे अधिक दिनों तक पुरी में रुके। इस अवधि में वे न केवल विभिन्न प्रकार के साधु-सन्तों से मिले, बल्कि सम्पूर्ण भारत में उठती हुई नव-वैष्णव भक्ति की लहर से भी परिचित हुए। तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितियों और विविधताओं से भी उनका परिचय हुआ। डॉ कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' के शब्दों में "भ्रमण से शंकरदेव को भारतवर्ष की विविधता, अनेकता और विराटता में जिस एकता (अद्वैतता) का प्रत्यक्षीकरण हुआ, मानों वही जगत की अनन्तता और विष्णु-कृष्ण की विराटता व सर्वशक्तिमत्ता की प्रतिमूर्ति थी और वही कृष्णस्तु भगवान स्वयम् के बोध में परिणत हो उनकी सिद्धि बनी। विराट राष्ट्र-पुरुष भगवान कृष्ण की शरण उन्हें स्वीकार्य हुई। स्वामी कृष्ण को पाकर अनाथ शंकर केवल सनाथ ही नहीं हुआ, वरन् उनका चंचल और विरागी मन स्थिर और कृष्ण नामानुरागी भी बना[3]।" परिणामत: कामरूप लौटकर उन्होंने 'एकशरणीया भागवती नाम-धर्म' का प्रवर्तन किया एवं उसीके प्रचार-प्रसार मे जीवन बिताया। आगे भूइयाॅ-कछारी संघर्ष के कारण उन्हें अपना गाँव छोडकर आहोम राज्यान्तर्गत धुवाहाटा जाना पडा। वहाँ की परिस्थितियाँ भी कुछ वर्षों के पश्चात् प्रतिकूल सिद्ध हुई, तब उसे भी परित्याग कर कोच राज्य की सीमा मे लौटकर पाटबाउसी (बरपेटा) को अपना स्थान बनाना पडा। इस प्रकार ब्रह्मपुत्र घाटी में बसी विभिन्न जातियों, जनजातीय गोष्ठियों के मध्य एवं उन्हीं के मानसिक स्तर के अनुरूप विभिन्न सरल पद्धतियों के माध्यम से उन्होंने एकशरण नाम धर्म का प्रचार किया इसके लिए के नाम का कीर्तन उनकी कथाओ का गायन

और अभिनय साधन के रूप में स्वीकृत हुए। परिणामत: विभिन्न साहित्यिक विधाओं में शंकरदेव की वाणी को रूप मिला। विभिन्न देव-देवियों की पूजक-गोष्ठियों एवं अंचलों तक सिमटे हुए समाज को शंकरदेव ने न केवल 'एकदेव-एकसेव' बल्कि 'धन्य-धन्य कलिकाल, धन्य नर तनु भाल, धन्य धन्य भारतवरिषे' से भी परिचित कराया। इस प्रकार एकबार पुन: समूचा पूर्वांचल भारतवर्ष की सघन-सांस्कृतिक परम्परा से जुड़ा। सत्र और कीर्तनघर के द्वार सभी जातियों के लिए खुले, जिससे सामूहिक चेतना और गणतन्त्र-भावना को नया बल मिला। इस प्रकार कहा जायेगा कि शंकरदेव की साधना से सम्पूर्ण कामरूप यानी आज का असम एक नवीन सास्कृतिक-धार्मिक और वैचारिक चेतना से ओत-प्रोत हुआ। उन्होंने ज्ञान-मिश्रा भक्ति का जो प्रवाह शुरू किया उससे आज भी असम ही नहीं, प्राय: समग्र पूर्वांचल आर्द्र बना है।

शंकरदेव की रचनाएँ : श्रीमंत शंकरदेव ने असमिया के अतिरिक्त संस्कृत और ब्रजावली में भी रचनाएँ की हैं। वे संस्कृत के विद्वान थे। वैष्णव शास्त्रो के गंभीर अध्ययन से जो अनुभव उन्होंने प्राप्त किया था, उन्हें विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त किया है। उन्होंने काव्य, गीत, नाटक, भटिमा आदि की रचना करके विपुल साहित्य समाज को प्रदान किया। शंकरदेव ने अपनी रचनाओं के माध्यम से असम तथा उत्तर-पूर्वांचल की जनता को भारतीय दृष्टि प्रदान की थी। उन्होंने अपने को मौलिक रचनाकार के अतिरिक्त कुशल संपादक एवं अनुवादक के रूप में भी प्रस्तुत किया था। भाषावार उनकी प्रामाणिक रचनाएँ निम्नांकित हैं :

संस्कृत : (1) भक्ति-रत्नाकर (भक्ति सिद्धान्त विषयक सकलित ग्रन्थ)
(2) तोटय (स्तवनमूलक पद)

ब्रजावली : (3) बरगीत (कुल संख्या 34)
(4) पत्नी-प्रसाद नाट
(5) कालि-दमन नाट
(6) केलि-गोपाल नाट
(7) रुक्मिणी-हरण नाट
(8) पारिजात-हरण नाट
(9) राम विजय नाट (1568 ई.)

असमिया : (10) भक्ति-प्रदीप (भक्ति विषयक सिद्धान्त ग्रंथ)
(11) हरिश्चन्द्र उपाख्यान (काव्य)
(12) रुक्मिणी हरण (काव्य)

(13) गुणमाला (काव्य)
(14) उत्तराकाण्ड रामायण (काव्य)
(15) भटिमा (स्फुट पद)
(16) कीर्तन-घोषा (काव्य-संकलन)
(17) भागवत (अनूदित काव्य)

भक्ति-रत्नाकर : वस्तुत: 'भक्ति-रत्नाकर' संकलित-संपादित संस्कृत ग्रथ है। संकलित श्लोकों की संख्या 564 हैं, जो 38 माहात्म्यों में वर्गीकृत हैं। भागवत पुराण, गीता, नृसिंहपुराण, शांति शतक, वामनपुराण, विष्णु-पुराण आदि ग्रंथो से सकलित श्लोको की एकशरण धर्मानुसार व्याख्या की गयी है। व्याख्या के लिए श्रीधर स्वामी कृत 'भावार्थ दीपिका' से और विष्णुपुरी की 'कांतिमाला' से सहायता ली गयी है। इस ग्रंथ के माध्यम से एकशरणिया-नाम-धर्म के चार सत्यों- गुरु, देव, नाम और भक्त के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है।

तोटय : शंकराचार्य कृत 'प्रभुमीशमनिशमशेष गुणम्' स्त्रोत्र की तरह शंकरदेव ने तोटय छन्द में विष्णु-कृष्ण का स्तवन किया है। कुल 36 पक्तियों के इस स्त्रोत्र से शंकरदेव के भक्त हृदय की परम उपलब्धि ही नहीं, संस्कृत में पद रचना की कारयित्री प्रतिभा का परिचय भी प्राप्त होता है। स्त्रोत्र की प्रारभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

मधुदानवदारणदेवबरं, बरबारिजलोचन चक्रधरम्।
धरणिधरधारणध्येयपरं, परमार्थविद्याशुभनाशकरम्।।

बरगीत : विभिन्न अवसरों पर शंकरदेव कृत भक्ति गीत ही बरगीत के नाम से प्रसिद्ध है। चरित पोथी में उल्लेख है कि शंकरदेव ने 240 बरगीतों की रचना की थी, परन्तु इन्हें कंठस्थ करने के लिए ले जानेवाले एक भक्त के घर में आग लगने के कारण बरगीत की पोथी भी जल गयी। बरगीतों में मुख्यत· कृष्ण वंदना, कृष्ण का रूप-सौंदर्य, कवि का दैन्य, नाम-महिमा, भक्ति की महत्ता, संसार की भगुरता, मन. प्रबोध, गोपी विरह इत्यादि को वर्ण्य-विषय बनाया गया है। शकरदेव के कवि और भक्ति-मानस की अप्रतिम उपलब्धि बरगीत को मनोविजय की साधना का काव्य कहा जा सकता है।

पत्नी-प्रसाद : शंकरदेव कृत नाटकों में पत्नी-प्रसाद अपेक्षया छोटा है। कथावस्तु श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के 23वे अध्याय पर आधारित है। ब्राह्मणो द्वारा यज्ञ भाग करना और बिप्र पत्नियों द्वारा कृष्ण पूजा के पारस्परिक द्वन्द्व को रेखाक्ति करके कर्म काण्ड पर कष्ण भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है

नाटक का मुख्य उद्देश्य एकशरणिया धर्म का प्रचार करना रहा है।

कालि-दमन : भागवत के दशम स्कंध के 15-16 एवं 17 वें अध्याय की कथा के आधार पर इस नाट्य की रचना की गयी है। इसमें कालिहृद के कालिनाग के दमन की कथा को नाटकीय वैष्टि्य के साथ प्रस्तुत किया गया है। बनाग्नि-पान प्रकरण को भी इस नाटक में संयुक्त किया गया है जिससे श्रीकृष्ण के भक्त-वत्सल और लोकरक्षक स्वरूप स्पष्ट हो सके।

केलिगोपाल . इस नाटक का कथानक भागवत (10/29-33), विष्णु पुराण (5/13) और ब्रह्मवैवर्तपुराण (अ 76) के आधार पर है। रास-क्रीड़ा के साथ शखचूड़ प्रकरण को जोड़कर शंकरदेव ने इस नाटक को मौलिकता प्रदान की है। गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की रासक्रीड़ा और उसमें आनेवाली बाधाओं को अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक मे एक महत्त्वपूर्ण सयोजन राधा नामक गोपी के कारण हुआ है, जो भागवत से भिन्न है।

रुक्मिणी-हरण : शंकरदेव ने भागवत के दशम स्कध (अ 52-54) से रुक्मिणी-हरण नाटक का कथानक स्वीकार किया है, परन्तु नाटकीयता लाने के लिए उन्होंने अनावश्यक तत्त्वों को छोड़कर मौलिक संयोजन किया है। कुंडिनपुर के राजा भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी का श्रीकृष्ण-प्रेम, श्रीकृष्ण के पास वेदनिधि द्वारा पत्र एवं वार्ता प्रेरण, वेदनिधि को साथ लेकर श्रीकृष्ण का द्वारका से कुंडिनपुर आना, देवी रुक्मिणी का हरण, रुक्मिणी-भाई रुक्म समेत स्वयंवर मे उपस्थित राजाओ का विरोध और अंत मे श्रीकृष्ण-रुक्मिणी विवाह प्रसंग को बडे वैचित्र्य के साथ इस नाटक में प्रस्तुत किया गया है।

पारिजात-हरण : यह नाटक शंकरदेव की पौढ और सर्वश्रेष्ठ कृति है। भागवत (10/59), विष्णु पुराण (5/29,30), हरिवंश पुराण (अ 64-81) के आधार पर श्रीकृष्ण पत्नी रुक्मिणी एव सत्यभामा के बीच पारिजात फूल को लेकर हुए वैमनस्य, सत्यभामा के आग्रह के कारण इन्द्र से विवाद मोलकर श्रीकृष्ण का पारिजात वृक्ष प्राप्त करना, सत्यभामा का रुक्मिणी को उलाहना देना आदि विविध प्रसंगों को बडे नाटकीय ढग से उपस्थापित किया गया है। शंकरदेव ने इस नाटक में नारद का चरित्र चित्रण अधिक स्वच्छंद रूप से किया है। एकशरणिया धर्म के अनुकूल रुक्मिणी और सत्यभामा को क्रमश. भक्ति और माया के प्रतीक के रूप में स्थापित किया गया है।

राम-विजय : राम कथा से संबंधित यह शंकरदेव का एकमात्र नाटक है। यह शकरदेव की अंतिम कृति भी है। कथावस्तु का आधार बाल्मीकि रामायण है

राम-लक्ष्मण के अयोध्या से विश्वामित्र के साथ उनकी यज्ञ-रक्षा के लिए जाना, राक्षसों का संहार करना, ऋषिमुख से सीता प्रशंसा सुनकर उनके साथ राम-लक्ष्मण का जनकपुर जाना, धर्नुभंग, राम-सीता का विवाह, परशुराम का क्रोध एवं क्षमा-याचना, राम द्वारा अभयदान, राम-सीता का वैवाहिक आनंद उठाने को नाटककार ने 'राम-विजय' नाटक का वर्ण्य विषय बनाया है।

भक्ति-प्रदीप : भक्ति सिद्धान्त परक 'भक्ति-प्रदीप' काव्य मे 308 छंद है। अन्त:साक्ष्य से विदित होता है कि इस काव्य की रचना 'गरुड़-पुराण' के आधार पर 'गीता' की तरह कृष्ण-अर्जुन संवाद के रूप में हुई है (गरुड़ पुराण कृष्ण-अर्जुन सवाद)। यह काव्य-ग्रंथ वस्तुत: शंकरदेव के एकशरणीया धर्म का प्रतिपादक है। इसमे भागवत धर्म, परम-ब्रह्म, भक्त-लक्षण, कर्मकाण्ड का निषेध, भक्ति के विभिन्न रूप, नाम-माहात्म्य आदि को विस्तार दिया गया है।

हरिश्चन्द्र उपाख्यान : एकशरणिया नाम-धर्म के चार सत्यों- गुरु, देव, नाम और भक्त को शकरदेव ने 'हरिश्चन्द्र उपाख्यान' काव्य के माध्यम से स्थापित करने का प्रथम सफल प्रयास किया है। यह काव्य 'मार्कण्डेय पुराण' पर आधारित है। कुल 678 छन्द हैं। हरिश्चन्द्र को एक निष्ठावान विष्णुभक्त के रूप मे चित्रित किया है। परम हरिभक्त होने के कारण हरिश्चन्द्र विघ्नेश्वर की पूजा नहीं करते है जिसके कारण उन्हें अनेक कष्ट झेलने पड़े। अन्तत. हरि पर दृढ़ निष्ठा के कारण उनके दु:खों का अंत होता है। कवि के वैयक्तिक जीवन के संघर्ष का प्रभाव काव्य की अन्तर्रचना प्रक्रिया पर पडा है।

रुक्मिणी-हरण : शंकरदेव कृत रुक्मिणी-हरण एक खण्ड काव्य है। इसमे कुल 796 छन्द हैं। अन्त:साक्ष्य से विदित होता कि इस काव्य की रचना हरिवंश और भागवत के आधार पर संवाद शैली में की गयी है। गुरुचरित के साक्ष्य से विदित होता है कि इसकी रचना शंकरदेव की प्रथम तीर्थयात्रा के बाद हुई है। प्रस्तुत काव्य के माध्यम से कवि ने कृष्ण के भक्तवत्सल और वीर रूप का भव्य चित्रण किया है। रुक्मिणी-कृष्ण परिणय के प्रसंग में कवि ने भरपूर आंचलिक तत्त्वों का समावेश किया है।

गुणमाला : वस्तुत: भागवत के दशम और एकादश स्कन्ध की कथा को सक्षिप्त रूप में इस काव्य में प्रस्तुत किया गया है। कुल 377 द्विपदियों की क्षिप्र प्रवाहवाली स्रोत्र जैसी इस रचना में एकशरण धर्मानुसार भक्ति, देव और नाम के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। छह खण्डों में विभाजित इस काव्य के प्रथम खण्ड मे के का वर्णन किया गया है सत्रो मे 'प्रसग' के समय

गुणमाला का पाठ किया जाना धार्मिक दृष्टि से इसका महत्त्व प्रतिपादित कराता है।

उत्तराकाण्ड (रामायण) : अप्रमादी कवि माधव कन्दलि विरचित पंचकाड रामायण में शंकरदेव ने उत्तराकांड तथा उनके प्रिय शिष्य माधवदेव ने आदि काड सयोजन कर इसे पूर्ण किया था। वस्तुत: उत्तराकाण्ड-रामायण वाल्मीकि रामायण का अनुवाद नहीं है बल्कि उसके आधार पर वैयक्तिक रुचि के अनुरूप कवि का मौलिक सृजन है। कुल 762 छंदों में राम-कथा को विस्तार प्रदान किया गया है।

भटिमा : 'भटिमा' के नाम से कुछ फुटकर गीत प्राप्त होते हैं। ये मुख्यत प्रशस्ति गीत हैं। शंकरदेव की भटिमाएँ दो प्रकार की हैं- (क) देव-भटिमा तथा (ख) राज-भटिमा। देव-भटिमाओं में श्रीकृष्ण का वंदन है और राज-भटिमाओ मे कोचराज नरनारायण की प्रशस्ति वर्णित है।

कीर्तन-घोषा : यह कुल 2264 पद्यो का विशाल संग्रह ग्रंथ है जिसमे 29 स्वतंत्र शीर्षकों के अन्तर्गत कुल 189 कीर्तन संकलित हैं। शंकरदेव ने विभिन्न समयों पर भागवत में वर्णित कृष्ण-गाथा को जो गेय रूप प्रदान किया था, यह उसीका संकलन है। भागवत-तत्त्व को संक्षिप्त एवं गेय रूप में प्रस्तुत करने के कारण असम के वैष्णव भक्त-जनों में इस काव्य का महत्त्व तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' जैसा है।

महाभागवत : 'महाभागवत' के विभिन्न स्कंधों का अनुवाद शंकरदेव ने विभिन्न समयों में किया है। अनुवाद करते समय कवि ने स्थानीय तत्त्व को जोडकर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। कुल 7540 पद्यों में रचित अनूदित 'भागवत' के अंतर्गत प्रथम, द्वितीय, तृतीय (अनादि पातन), षष्ठ (अजामिल उपाख्यान), अष्टम (अमृत-मथन एवं बलि-छलन), दशम (आदि दशम और कुरुक्षेत्र), एकादश (कृष्ण-प्रयाण, पांडव-निर्याण तथा निमि-नवसिद्ध संवाद) एवं द्वादश स्कंध समाविष्ट है। 'महाभागवत' का अनुवाद भर करना कवि का अभीष्ट नहीं था, जिसके कारण क्रमबद्ध अनुवाद का रूप प्राप्त नहीं होता है। मूल भागवत से तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि कवि ने मूल के अनुसरण की अपेक्षा वैयक्तिक रुचि को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने वैष्णवेतर प्रसंगों को छोड़कर एकशरणीया भक्ति-मार्ग के अनुकूल वैष्णव मत को स्वीकार कर भागवत का असमिया रूप प्रस्तुत किया है। सकीर्तन के समय शंकरदेव कृत 'भागवत' को विग्रह के स्थान पर स्थापित करने की दृष्टि से इस काव्य-ग्रंथ का महत्त्व स्वत: ही प्रतिपादित हो जाता है।

शंकरदेवकालीन परिस्थितियाँ

साहित्यकार निजी जीवन की परिस्थितियों के साथ-साथ युगीन परिस्थितियो से प्रभाव ग्रहण करता है। समाज का अंग होने के कारण साहित्यकार की दृष्टि देशकाल निरपेक्ष नहीं हो सकती। महापुरुष शंकरदेव केवल एक साहित्यकार ही नहीं थे, वे धर्म-प्रचारक, समाज सुधारक, कलाकार, विचारक इत्यादि की गरिमाओ से भी युक्त थे। असम के नव-वैष्णव धर्म के प्रवर्तक शंकरदेव युगपुरुष थे, जिन्होने अपने युग को अपने अनुसार प्रेरित-प्रभावित करने में कोई कसर शेष नहीं छोडी थी। अत: उनकी विचारधारा से अवगत होने के पूर्व शंकरदेवकालीन परिस्थितियो का आकलन अपेक्षित है।

(क) राजनीतिक : शंकरदेवकालीन असम (1449-1568 ई.) में किसी एक सबल केन्द्रीय सत्ता का अभाव था। पूरा राज्य छोटे-छोटे राजाओं और सामन्तो से शासित था। उस समय पश्चिमी असम कोच राजाओं, मध्य असम भुइयाँ राजाओ और पूर्वी असम कछारियों, आहोमों और चुतिया राजाओं द्वारा शासित था। इन राजाओं में बहुधा छोटी-मोटी बातों पर झगड़े और युद्ध हो जाया करते थे। अनेक ऐसे भी राजवंश इस समय हुए जिनका शासन दो-तीन दशकों से अधिक नहीं चला। कछारियों और भुँइयों के संघर्ष के उल्लेख विभिन्न 'गुरुचरितों' मे मिलते है। शंकरदेव के परम्परागत भुइयाँ राजा की समाप्ति के कारणों मे से एक कारण कछारी और भुइयाँ का संघर्ष भी है। पश्चिम में नरनारायण और चिलाराय के नेतृत्व में बढ़ती हुई कोच शक्ति और पूर्व में बढ़ती हुई आहोमों की शक्ति के राज्य-विस्तार की लिप्सा ने अतत: छोटे-मोटे राज्यों को अपने में लील लिया और केवल ये दो शक्तियाँ ही अंतत: प्रमुख बन गयीं। शंकरदेव के जीवन के अंतिम बीस वर्ष कोचराज में ही बीते थे एवं उन्हें राजकीय संरक्षण भी प्राप्त हुआ था। सोलहवीं शती के पश्चात् तो कोच शक्ति (दरंगी राज्य) भी आहोमों के अधीनस्थ हो गयी।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि शंकरदेवकालीन असम यानी तत्कालीन कामरूप राजनीतिक दृष्टि से अशांत था। मार-काट, छीना-झपटी, हत्या और लूट के कारण सामान्य जनता का जीवन असुरक्षित था। इसी बीच पश्चिम से इस्लामी आक्रमण भी हो रहे थे। ऐसा लगता है कि 'जितने वंश उतने कबीले, जितनी जातियाँ उतने राज्य, जो जितना शक्तिशाली वह उतना ही अधिक महान्-यही उस समय की राजनैतिक स्थिति थी। विरोध (rivalry) और शौर्य (chivalry) ये दो मुख्य प्रवत्तियाँ थीं[4] राजनीति के इस जगल ्याय (jung e ru e) का परिणाम

अशांति और असुरक्षितता (insecurity) से सामान्य जन-जीवन त्रस्त था। अत अस्वाभाविक नहीं कि जनता के मन में एक प्रवल राजा की छत्र-छाया प्राप्त करने की आकांक्षा जगी हो एवं भौतिक शांति और सुरक्षा की दृष्टि से (पारलौकिक जीवन मे मोक्ष प्राप्ति हेतु उसके प्रक्षेपण के रूप में) एक सर्वशक्तिमान ईश्वर की शरण-प्राप्ति करने के लिए वही योग्य वातावरण तैयार करने मे भी सहायक बना हो।

(ख) **सामाजिक** : शंकरदेवकालीन असम में आर्य और आर्येतर दोनों प्रकार के लोग रहते थे। जितनी टोलियाँ अथवा कबीलाई जनजातियाँ उतना ही समुदाय अथवा समाज, असम की यही सामाजिक स्थिति थी। उनमें परस्पर विच्छिन्नता और अलगाव का भाव था। आर्येतर टोलियों की तुलना में आर्य टोलियाँ अधिक सुसंस्कृत थीं। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार 'असम में बसनेवाली जातियों में जितना वैविध्य और वैचित्र्य मिलता है उतना शायद भारत में नहीं; विश्व के किसी भी प्रदेश में इतनी जातियों का एक स्थान पर समागम न हुआ होगा। वैदिक युग के आर्य, असुर, यक्ष, राक्षस, शक, हूण, कुशान, नाग आदिवासी और कबीले की विविध जातियाँ असम में निवास करती रही है; जिनके खान-पान, धार्मिक-विश्वास, रीति-रिवाज में बहुल भेद है[5]।'

सामाजिक जीवन में सबसे अधिक सम्मान ब्राह्मणों को प्राप्त था। धार्मिक रीति-रिवाजों के अधिकारी होने के अतिरिक्त वे विज्ञान एवं कला की चर्चा भी करते थे। वे राज-पुरोहित और राजकवि होने के अतिरिक्त मंत्री तथा उच्चतम राज-अधिकारी भी होते थे[6]। विविध चरित-पोथियो में प्राप्त विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि राजाओ तक ब्राह्मणों की पहुँच थी और राजे भी इनको महत्त्व देते थे। ब्राह्मण पंडितों द्वारा शंकरदेव को परेशान करना तथा उनके खिलाफ राजाओं का कान भरना इसीका द्योतक है।

सारे राज्य में युद्ध का वातावरण बना हुआ था। इसलिए क्षत्रियों का महत्त्व भी बना हुआ था। यद्यपि वर्णाश्रम धर्म के आधार पर क्षत्रियों का कोई विशिष्ट वर्ग नहीं रह गया था, फिर भी सेना आदि को इस वर्ग मे रखा जा सकता है। अपनी प्रभुता या शक्ति के आधार पर उन्हें सामाजिक जीवन में ब्राह्मणों के पश्चात द्वितीय स्थान प्राप्त था।

व्यवसायियों में बनिया, बढ़ई, तेली, नट, रेशम के कीड़े पालने वाले, ताती लुहार, कुम्हार, कैवर्त, धोबी, नाई, नाविक, लकड़ी विक्रेता, फिटकिरी विक्रेता, दर्जी आदि के उल्लेख मिलते है[7]। स्वयं शंकरदेव ने भी 'ओरेषा-वर्णन' में तेली, माली पत्थर तोडनेवाले बनिया सूत काटनेवाले ताती चर्मकार

कमार, चित्रकार, कहार, कुण्डार, वैद्य इत्यादि विभिन्न व्यावसायिक जातियों का उल्लेख किया है[8]। इसके बावजूद असम में खेती ही मुख्य पेशा थी। किसान-मजदूर प्रधानत. खेत में काम करते थे। अपने व्यवसाय के आधार पर इन का समूह होता था और तदनुरूप समाज में स्थान था।

समाज में दास-प्रथा प्रचलित थी, दासों के द्वारा घर के काम कराने के अतिरिक्त खेतों की जुताई का कार्य भी करवाया जाता था। दासों का खुले बाजार मे क्रय-विक्रय भी होता था। कुलीन युवक के लिए बीस रुपये और अकुलीन युवती के लिए तीन रुपये निर्धारित थे[9]।

सामान्यत: नारी को समाज में उचित मर्यादा प्राप्त थी। राजकीय शासन-तंत्र मे यदाकदा उनका प्रभाव रहा करता था। व्यतिरेक के रूप में कहा जा सकता है कि सुन्दरी युवतियों को राजे अथवा उच्च पदाधिकारी 'लिगिरि' (दासी) रख लेते थे। देवदासियाँ मन्दिरों में नृत्य करती थीं[10]। पुरुषों को खेत वगैरह में सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त महिलाएँ बुनाई करती थीं।

गुरुगृहों में शिक्षा दी जाती थी। इसे 'टोल' या 'छात्रशालि' के रूप मे जाना जाता था। सामान्यत: ब्राह्मण-पण्डितों द्वारा शिक्षा-केन्द्र चलाये जाते थे। ऐसे ही एक टोल में शंकरदेव ने महेन्द्र कन्दलि नामक एक ब्राह्मण शिक्षक के अधीन शिक्षा प्राप्त की थी। इससे पता चलता है ब्राह्मणेतरों को भी पाठशाला में दाखिला मिलती थी।

शिक्षा प्रधानत: धार्मिक होती थी। इसलिए विद्यार्थियों को वेद, ज्योतिष, दर्शन के विविध ग्रंथ, योगशास्त्र आदि पढ़ना पड़ता था[11]। 'कायथाली' या 'मजुमदारी' विद्या की शिक्षा भी दी जाती थी, जिसमे लिखने-पढ़ने का, हिसाब रखने का काम सिखाया जाता था। शंकरदेव के शिष्य माधवदेव ने इस विद्या का अभ्यास किया था। शकरदेव के आग्रह पर ही चक्रपाणि मजुमदार ने यह विद्या रामानन्द को भी सिखायी थी[12]। तत्कालीन असम में मल्लयुद्ध की भी शिक्षा दी जाती थी[13]। राजकीय स्तर पर अन्य कई प्रकार की शिक्षाएँ उपलब्ध थीं, जिनमें सैनिक शिक्षा, नौ प्रशिक्षण, भैषज्य एवं आयुर्वेद, पशु-विज्ञान. बुनाई प्रशिक्षण आदि उल्लेखनीय हैं[14]।

शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् विद्यार्थियों को विभिन्न प्रकार की उपाधियाँ प्राप्त होती थीं, जिनमें आचार्य, कन्दलि, मिश्र, उपाध्याय, भारती, सरस्वती वागीश, कविरत्न आदि प्रधान हैं[15]।

शंकरदेव द्वारा वर्णित 'कलियुग'[16] मे तत्कालीन समाज का चित्रण भी प्राय इससे मिलता जुलता ही है ... होते रहने के कारण

सामाजिक स्थिरता नहीं थी। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुरूप ही जनता में भी प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, शोषण, संत्रास की भावनाएँ फैली हुई थीं। संकीर्णता और रुढ़िवादी चिंतन के कारण सामाजिक जीवन जड़ हो गया था जिसका मूलोच्छेद करके विभिन्न सामाजिक गुटों, कबीलाई-टोलियों में विभक्त समाज को एकजुट करने के लिए मानों समाज किसी महान प्रतिभा की प्रतीक्षा कर रहा था जिसका लाभ शंकरदेव को मिला।

(ग) धार्मिक : धर्म का सम्बन्ध जीवन में आवश्यक धारणीय कृत्य से है। इसके अन्तर्गत मनुष्य की आन्तरिक और बाह्य रुचियाँ और प्रवृत्तियाँ प्रकट होती है। चूँकि मध्ययुगीन असम राजनैतिक और सामाजिक दृष्टियों से छोटी-बडी अनेक इकाइयों एवं आर्य और आर्येतर टोलियों में विभाजित था, उनके रहन-सहन, आचार-विचार भिन्न-भिन्न थे। इसलिए स्वभावत: उनमें धार्मिक दृष्टि से भी विविधता और विशृंखलता दिखायी पड़ती है। पूजाचारों और उपासना पद्धतियो मे अन्तर था। यों मुख्यत. उस समय शैव, शाक्त, वैष्णव, तंत्रादि धार्मिक सम्प्रदायो का प्रचलन था। इनमें पौराणिक और वामाचरिता दोनों प्रकार की पद्धतियॉ प्रचलित थीं। जनजातीय टोलियों में अलग-अलग उपासना पद्धतियाँ तो थीं ही, नवीन इस्लाम धर्म ने भी अपने पैर जमाने शुरू किये थे।

शिव-पूजा का प्रचलन राजा जल्पेश्वर के समय से होने का उल्लेख मिलता है, जो किम्बदन्ती पर आधारित है।[17] मिथिला से नरकासुर के आकर कामरूप मे बसने तक इस जनपद के किरात शिव-पूजक थे।[18] कोच-राज्य के प्रतिष्ठता विश्व-सिह तथा बारह मेच सरदार शिव भक्त थे। किम्बदन्ती के अनुसार विश्वसिंह का जन्म शिव के आशीर्वाद से हुआ था।[19] शिवोपासना पौराणिक एवं तांत्रिक दोनो पद्धतियों से होती थी। गुरुचरितों में उल्लेख है कि कुसुमवर भूआ ने सिंगरी के गोपेश्वर शिव की आराधना करके शंकरदेव को पुत्र रूप में प्राप्त किया था। इसलिए पुत्र का नाम शंकर रखा गया था।[20] शंकरदेव के शिष्य माधवदेव के बडे भाई रामचन्द्र गिरि शिवोपासक थे।[21] व्यासकलाई के शिवपूजन होने के कारण उन्हे शाकरी-पथ से त्याग दिया गया था।[22] अत:, स्पष्ट है कि शंकरदेव के समय शिवोपासना बहु प्रचलित थी।

असम में शक्ति-पूजा की परम्परा भी रही है। 'कालिकापुराण' और 'योगिनीतंत्र' मे प्राप्त वर्णनों से विदित होता है कि असम में शक्ति-पूजा का प्रचलन प्राचीनकाल से ही रहा है[23] संभवत नरकासुर ने ही शिवोपासना के स्थान पर देवी उपासना को अधिक महत्त्व दिया था यहा के की शाक्त पीठ के रूप मे प्रसिद्धि शुरु

से ही रही है। यहाँ सती की योनि-पूजा होती थी। कोचराज नरनारायण और उनके सेनापति भाई चिलाराय द्वारा दुर्गास्तव करना, कामाख्या मन्दिर का पुनर्निर्माण कराना, भैंसा, छाग, हंस, कबूतर आदि के अतिरिक्त नरबलि देना उनके शाक्त-धर्म के प्रति अनुराग का ही द्योतक है।[24] कहा जाता है कि शंकरदेव के वैष्णव शिष्यों को भी नरनारायण ने दुर्गा-नमन करने का आदेश दिया था।[25] असम में शक्ति पूजा विभिन्न रूपों में प्रचलित रही है, जिनके चार रूपों के वर्णन मिलते हैं- (1) मातृरूपिनी कामाख्या, (2) पत्नीरूपिनी पार्वती, (3) कुमारी रूपिनी त्रिपुर सुन्दरी और (4) संहार रूपिनी ताम्रेश्वरी। प्रथम तीन काम-पीठ की देवियाँ हैं और चौथी सौमार-पीठ की। प्रसगतः उल्लेख किया जा सकता है कि शंकरदेव के पूर्वज भी शाक्त रहे होंगे। उनके पितामह का नाम 'चण्डीवर' अथवा 'देवीदास' था।[26] शकरदेव के पिता कुसुमबर भुजा के घर में चण्डी की प्रतिमा थी और शकरदेव के गुरु महेन्द्र कन्दलि विद्यार्थियों को पाठारम्भ कराते समय चण्डी मंत्रो का पाठ करवाते थे।[27] असम में शक्ति-पूजा के दो अन्य रूप भी प्राप्त हैं- मनसादेवी और शीतला देवी की पूजा। असमिया लोकगीतो मे देवी के इन रूपो की स्तुतियाँ है।[28] शकरदेवकालीन कवि मनकर एवं दुर्गावर की रचनाओ मे मनसा देवी के विविध वर्णन उपलब्ध होते हैं।

असम के भूइयों के पास 'धातु-ताम्रक्षरी' नामक एक मंत्र-पोथी थी। मायामरीया सत्र के प्रतिस्थापक अनिरुद्ध देव को यह पोथी प्राप्त हुई थी।[29] शंकरदेव के समय तक विविध प्रकार के मंत्रों के प्रचलन एवं उनके प्रयोक्ताओं-ओझाओं इत्यादि के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं।

असम में वैष्णव मत का प्रचलन सभवतः ई.वी. सन् की चौथी शती से ही हो चुका था। सुरेन्द्र वर्मा[30] (280-320 A.D.) के उमाचल शिलालेखों में भगवत बलभद्र स्वामी के गुहा-मन्दिर के निर्माण कराये जाने के उल्लेख से इस बात का अनुमान होता है। 'कालिकापुराण' में विभिन्न धार्मिक-पीठो के उल्लेख मिलते हैं। उनसे पता लगता है कि उसकी रचना होने तक असम में नौ वैष्णव पीठ थे, यथा- मणिकूट, पाण्डुनाथ, चित्रकूट पर्वत, दिक्करवासिनी, भगवान पर्वत, मणिकर्ण नन्दन पर्वत, जनार्दन गिरि तथा बाराह पर्वत आदि।[31]

दान-पत्रों, अभिलेखो इत्यादि में प्राप्त दुर्लभनारायण, सत्यनारायण, लक्ष्मीनारायण, माधवनारायण, बलभद्र, हरि आदि नाम से भी वैष्णव समुदाय के प्रभाव का पता चलता है। उत्खनन कार्य से उद्धार प्राप्त कुछ विष्णु मूर्तियों का समय सातवीं, नवीं तथा दसवीं ग्यारहवीं शती अनुमित किया गया है[32] चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी के

असमिया वैष्णव कवि हरिवर बिप्र, कविरत्न सरस्वती, माधव कन्दलि की रचनाएँ भी इस मत की पुष्टि करती हैं। इनके बावजूद यह कहा जायेगा कि तब तक यह लोक-धर्म नहीं था, केवल कतिपय मठ-मन्दिरों तक ही सीमित था। प्राक्-शांकरी काल तक विष्णु पूजा पांचरात्र[33] एवं तांत्रिक-पद्धतियों[34] से होती थी। डॉ प्रताप चन्द्र चौधरी का मत है कि तांत्रिकता और विकास में अनार्य जातियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है[35]। हयग्रीव माधव, उमानन्द, पाण्डुनाथ इत्यादि वैसे ही वैष्णव-पीठ रहे हैं।

तत्कालीन असम में सूर्य, गणेश इत्यादि देवताओ की पूजा के प्रचलन भी थे। असम के विभिन्न स्थानों से प्राप्त सूर्य की प्रतिमाएँ इसी बात के प्रमाण हैं। संभवत गोवालपारा के सूर्य-पहाड़ और गुवाहाटी के चित्राचल सूर्य-पूजा के विशेष केन्द्र थे। इसी प्रकार गणेश पूजा की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि असम के अधिकाश प्राचीन नगरों एवम् वहाँ के धार्मिक स्थानों के इर्द-गिर्द गणेश की प्रतिमाएँ चट्टानो पर उत्कीर्ण मिलती हैं। गणेश की मूर्तियाँ भी बहुतायत से यहाँ प्राप्त होती हैं।

असम में बौद्ध, नाथ, सूर्य-पूजक, धर्म-पूजक, मंत्रविद्या के उपासक आदि कतिपय धार्मिक सम्प्रदाय रहे हैं। बौद्धों के वज्रयानी प्रचारक थे,[36] जिन्होने वामाचारी धर्म को फैलाकर प्रजा को पथभ्रष्ट किया था। धुवाहाटा बेलगुरि में वैसे बौद्ध-वामाचारियो से शंकरदेव की भेंट हुई थी[37]। 'कीर्तन' के 'पाषण्ड मर्दन' मे शकरदेव ने वैसे भ्रष्टाचारी बौद्धों की पर्याप्त निन्दा की है।

नाथ या योगी-सम्प्रदाय का उल्लेख चरित पुथि में उपलब्ध है[38]। कामरूप इस सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्रस्थल रहा है। सहजिया नाथ में 'कौल-ज्ञान-निर्णय' का आदर था। पालवंशी राजा धर्मपाल (1090-1115 ई) भी इसी मत से प्रभावित थे। गोवालपारा जिले के योगीघोपा, पंचरत्न और सूर्य पहाड में इस सम्प्रदाय के मठ-मन्दिर रहे हैं[39]। माधव कन्दलि की 'रामायण' (अयोध्याकाण्ड) में इन नाथ योगियों के उल्लेख हैं। लोक-गीत और दन्त-कथाओं[40] में भी नाथ पंथी योगियों का उल्लेख है। युवावस्था मे शंकरदेव ने योग-शास्त्रों का अध्ययन किया था जिसका प्रभाव उनके 'अनादि-पातन'[41] में दिखायी पडता है।

1498 ई. में हुसैन शाह ने पश्चिमी असम को जीत कर वर्तमान गौरीपुर के निकट रंगामाटि में अपना केन्द्र बनाया और वहीं पहली बार मस्जिद भी बनी। इस प्रकार असम मे इस्लाम मत ने भी अपने पैर जमाने शुरू किये पुन गयासुद्दीन औलिया द्वारा हाजो मे 'पोवा मक्का' नाम से एक मस्जिद का निर्माण किया गया

था।[42] औलिया को ही कामरूप में सर्वप्रथम इस्लाम धर्म प्रचार करने का श्रेय प्राप्त है।[43] हुसैन शाह के बंग लौटने के बाद भूइयों और आहोमों ने दानियल का वध किया। परन्तु तब तक कामरूप में इस्लाम सम्प्रदाय के लोग बस गये थे और इन लोगों के द्वारा इस्लाम धर्म की एक नवीन धारा इस जनपद में प्रचलित हुई। शकरदेव के शिष्यों में चान्दसाई नामक एक मुसलमान का नाम भी मिलता है।[44]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्राक्-शांकरी काल के राजनैतिक एव धार्मिक जीवन वैमनस्यपूर्ण थे। तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ से कामरूप राज्य का विखण्डन, पाल-वंश की समाप्ति पर भुइयों द्वारा टुकड़े-टुकड़ खण्डों पर अधिकार एव इन विखण्डित राज्यों पर आहोम और कछारियों के सतत् आक्रमण के फलस्वरूप समाज में सब प्रकार से अशान्ति फैल गयी थी। डॉ वाणीकान्त काकति के अनुसार इस समय समाज भीतर से खोखला हो चुका था और बाहर से भी कोई सजीवनी शक्ति प्राप्त नहीं हो रही थी।[45] तांत्रिक-वामाचारी रीति-नीतियों से धर्म की नींव मैली हो गयी थी। धार्मिक रीति-रिवाज के नाम पर विभिन्न देव-देवियों की पूजा, शबरोत्सव, कुमारी-पूजा, देवदासियों के नृत्य ही सर्वस्व थे। तिस पर बग-सुल्तान सुलैमान-इ-कारनी के सेनाध्यक्ष कालापहाड द्वारा कामरूप के असख्य मठ-मन्दिरो का विध्वंसीकरण भी हुआ। इस समय धार्मिक-सामाजिक जीवन के नैतिक-पतन के बारे में अनिरुद्धदेव ने 'भागवत' के पंचम स्कन्ध मे विस्तृत वर्णन उपस्थित किया है।

अत., यह स्पष्ट होता है कि योग्य धार्मिक-नीति को अपना कर चलनेवाली न तो उस समय कोई सुदृढ राजशक्ति थी और न कोई ऐसा महापुरुष ही था जिसमे सभी धार्मिक मान्यताओं को समेट कर चलने की अथवा उनकी बुराइयो को दूर कर एक नवीन मानवधर्म प्रचलन करने की क्षमता हो। सम्पूर्ण धार्मिक वातावरण दमघोटू बना हुआ था। यद्यपि अनेक विचारवान पुरुष धार्मिक वामाचारिता और धर्माडम्बर को निजी तौर पर अस्वीकृत करते थे, पर उसे सामाजिक स्तर पर एक सबल धार्मिक उद्घोष का रूप देना बाकी था। वही कार्य शंकरदेव द्वारा किया जाता है।

(घ) साहित्यिक : शंकरदेव के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन ने उनके व्यक्तित्व के विकास एवं विचारधारा के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान तो किया ही, पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्पराओं ने भी उसे नयी दिशा दी।

शंकरदेव को विरासत में केवल असमिया भाषा और साहित्य की ही नहीं मिली थी बल्कि और के बल पर उन्होने सस्कत इत्यादि

की सुदीर्घ परम्पराओं का भी लाभ उठाया था। विभिन्न 'चरित-पोथियों' में उन विषयों एव ग्रंथों का उल्लेख मिलता है जिनका उन्होंने अध्ययन किया था। उनमे धर्म-शास्त्र के अतिरिक्त साहित्य, व्याकरण, दर्शन, योग-शास्त्र इत्यादि भी समाहित हैं। उनके विस्तृत अध्ययन और पूर्ववर्ती साहित्यिक-सांस्कृतिक परम्परा के अन्तर्ग्रथन का अन्दाज मात्र इतने से ही किया जा सकता है कि केवल 'भक्ति रत्नाकर' मे उन्होंने संस्कृत के कम से कम बाईस ग्रथों के श्लोकों को प्रस्तुत किया है। पुन विभिन्न पुराणों में 'पुराण-सूर्य' भागवत एवं उसकी श्रीधरी व्याख्या से अधिक लाभ उठाया है। तीर्थ-भ्रमण के क्रम में उन्हें भारतवर्ष की अन्य-भाषिक साहित्यिक-परम्पराओं को भी जानने-समझने का अवसर मिला होगा। अस्तु, कहा जायेगा कि शंकरदेव ने सुदीर्घ एवं सबल साहित्यिक परम्पराओं से लाभ उठाया था। यहाँ उन सबका उल्लेख न करते हुए केवल शंकरदेव पूर्ववर्ती असमिया साहित्यिक-परम्परा का उल्लेख किया जाता है। शंकरदेव पूर्ववर्ती प्रमुख असमिया साहित्यकार और उनकी कृतियाँ निम्नांकित रूप में प्राप्त हैं-

हेम सरस्वती- 'प्रह्लाद चरित' और 'हरगौरी संवाद'।

कविरत्न सरस्वती- 'जयद्रथ वध'।

रुद्र कन्दलि- 'सात्यकि प्रवेश'।

हरिवर बिप्र- 'बभ्रुवाहनर युद्ध' और 'लव-कुशर युद्ध'। अनुवाद :
'अश्वमेध पर्व (महाभारत)।

माधव कन्दलि- 'रामायण'।

इनके अतिरिक्त किंचित् मौखिक साहित्य भी उपलब्ध थे। नाथों की थोडी वाणियाँ भी चलती थीं। इतना स्पष्ट है कि वैष्णवेतर साहित्य की अपेक्षा वैष्णव साहित्य की परम्परा अधिक स्पष्ट और सबल हो चुकी थी। पूर्ववर्ती कवियो मे माधव कन्दलि का महत्त्व कई दृष्टियों से अधिक था और शंकरदेव ने उनसे न केवल बहुत कुछ पाया है, बल्कि उन्हें 'अप्रमादी कवि' घोषित कर उनके प्रति अपनी श्रद्धा भी व्यक्त की है[46]। इतना अवश्य है कि शंकर पूर्ववर्ती असमिया साहित्य मे वैष्णव-मत विषयक उल्लेख पांचरात्रानुमोदित है जबकि शंकरदेव द्वारा व्याख्यायित वैष्णव भक्ति पांचरात्र पद्धति से सर्वथा भिन्न, किन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि पौराणिक कथाओं को भाषावद्ध करने की परम्परा शंकरदेव को पूर्ववर्ती कवियों से ही मिली थी। शिव और शक्ति विषयक पूर्ववर्ती मान्यताओं, उक्तियों इत्यादि का लाभ भी शंकरदेव को मिला उन्होंने उसका या तो खण्डन किया है अथवा ८ दृष्टि विकसित करने के लिए साधन रूप मे स्वीकृत किया है

पुन गीत, कथागीत, काव्य जैसे कृष्णरूप एवं छंद, विभिन्न अलंकारों के प्रयोग इत्यादि भी पूर्ववर्ती असमिया साहित्य से ही उन्हें मिले जिन्हें उन्होंने नया कल्प प्रदान किया। मौखिक साहित्यिक विधाओं, लोकनाट्यों इत्यादि ने भी शंकरदेव को अपनी रचनाओं के लिए नयी दिशा दी। नाटक की विधा के विकास के प्रेरक लोकनाट्य ही रहे हैं। अतः स्पष्ट है कि शंकरदेव ने तद्युगीन साहित्यिक परम्पराओं से अनेक विध लाभ पाया।

(ङ) सांस्कृतिक : साहित्यिक परम्परा की तरह ही सांस्कृतिक पीठिका भी महत्त्वपूर्ण होती है। शंकरदेव ने उससे भी पर्याप्त लाभ उठाया है। शंकरदेव की रचनाओं में अंकित संस्कृति विधान भारतीय सांस्कृतिक प्रवाह की ही संचित, अक्षय निधि है। उनमें अधिकांश तत्त्व तो आये हैं सीधे संस्कृत-साहित्य से, पर कुछ तत्त्व तत्युगीन परिवेश से भी गृहीत हुए है।

असम की आवादी में विभिन्न जनगोष्ठियों का समागम दिखायी पड़ता है। आर्यों के अतिरिक्त आष्ट्रोएशियाई, तिब्बती-वर्मी आदि मूलों के लोग यहाँ बसे हैं। उनके रीति-रिवाज, आचार-विचार, धर्म-संस्कार आदि में पर्याप्त भिन्नता रही है। यहाँ की विभिन्न गोष्ठियों के समन्वयन और जातियों के पारस्परिक अन्तरावलम्बन से जिस नवीन भारतीय संस्कृति के विकास में तद्युगीन असम की जो भूमिका रही उसके बहुत बड़े पुरस्कर्ता शंकरदेव थे, जिसे डॉ सुनीति कुमार चटर्जी ने "A case of progressive Indianisation or Hinduisation of Mongoloid people, bringing them within the fold of what may be called sanskrit culture[47]" कहा है, वह शंकरदेव के नेतृत्व में ही सम्पन्न हो रहा था। शंकरदेव की रचनाओं मे उनके प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव अनायास दिखायी पड़ जाते हैं। ह्रासकालीन बौद्धों की परम्परा से विकसित 'वज्रयान' की विकृतियाँ उस समय व्याप्त थीं। शकरदेव द्वारा प्रयुक्त 'वामानय' (प्रह्लादक पढ़वन्त्र शास्त्र बामानय)[48] शब्द उसी की देन है। यदि यह शब्द परम्परा से आया होता तो शंकरदेव ने उसे 'उपधर्म' कहा होता, क्योंकि भागवत ने भगवान बुद्ध को 'उपधर्म' का प्रचारक कहा है। इसी प्रकार 'ओरेषा वर्णन' में सुभद्रा के लिए प्रयुक्त 'कात्यायिनी'[49] शब्द तत्कालीन असम मे व्याप्त वाममार्गी शाक्त-उपासना का परिचायक है।

सांस्कृतिक पीठिका से गृहीत तत्त्वों का एक भिन्न रूप भी शंकरदेव की रचनाओं में मिलता है। शंकरदेव के समय असम में प्रचलित 'ओजापाली' आदि विभिन्न लोकनाटयों एवं भारत-यात्रा के क्रम में परिचय प्राप्त किये केरल के ब्रज के 'रास आदि का विकसित एव सस्कृत की

राज्याश्रित 'सगीतक' परम्परा का समाहार शंकरदेव के अकिया नाटो में देखा जा सकता है। भारत-यात्रा के क्रम में विभिन्न स्थानों पर गाये जानेवाले भक्तिमूलक गीतों एवं तत्कालीन असम मे प्रचलित विभिन्न गीतों की पीठिका को समझने के पश्चात् ही शंकरदेव के 'बरगीतो' के रूप-विधान आदि को समझा-परखा जा सकता है। मूर्ति-पूजा की अस्वीकृति और नाम-धर्म के महत्त्व प्रतिपादन के विभिन्न कारणों में से एक कारण तत्कालीन उत्तर भारतीय इस्लामी शासन का मूर्ति-भंजक रूप और असम में हुए कालापहाड के आक्रमण के परिणामस्वरूप देव-मन्दिरों का तोडा जाना भी स्वीकार किया जा सकता है। उनकी भाषा में प्राप्त फारसी-उर्दू मूल के शब्दों का पाया जाना भी इस्लामी प्रभाव का ही उदाहरण है। धार्मिक भेदो को अद्वैत के प्रतिपादन से, जाति-भेद को आराध्यदेव की सार्वत्रिक और सार्वकालिक विद्यमानता एवं उसके द्वारा उत्पन्न की गयी सृष्टि के शारीरिक तत्त्वो की एकता से तथा राज-व्यवस्था को चारित्रिक एवं नैतिक गुणों की श्रेष्ठता से निरस्त करने का जो प्रयास उनके काव्य में वर्तमान हैं,[50] उसकी मूल कल्पना यहीं दिखायी पड़ती है। अत कहा जायेगा कि शंकरदेव ने जो विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराएँ पायीं, उनके समुचित समन्वय से भी उनकी वैचारिकता को बल मिला। विभिन्नता को उन्होने समन्वय के द्वारा अद्वैतता में परिणत किया। उन्होंने किसी प्राचीन परम्परा को न तो बन्द आँखों से स्वीकार किया और न किसी लोक-संस्कृति को अस्वीकार किया, बल्कि सब में सामंजस्य उत्पन्न कर एक नयी वैचारिक क्रान्ति की जिसने असम मे एक नया जीवन संचार किया।

तुलसीदास :

जीवन और व्यक्तित्व : शंकरदेव की तुलना में तुलसीदास के जीवन के सबध में ज्ञात तथ्य अपेक्षया अधिक संदिग्ध हैं। उनके जन्मवर्ष, जन्मस्थान, माता-पिता, वश, गुरु इत्यादि विषयक विविध उल्लेख आज भी कल्पनोर्वर बने हुए है। यों अन्त:साक्ष्य, बहि.साक्ष्य और अनुश्रुतियो के आधार पर अनेक अध्येताओ ने तुलसी के जीवन-चरित्र को विश्वसनीय रूप में उपस्थित करने के प्रयत्न किये हैं।[51] पुनरुक्तियों और विवादों से बचते हुए यहाँ मात्र इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तुलसीदास (1532-1623 ई.) की कृतियों में चित्रकूट के प्रति चूँकि अपेक्षया अधिक आकर्षण है, इसलिए असंभव नहीं कि उनका जन्म उसी के आस-पास किसी गाँव में हुआ होगा। संभवत: वे 'मंगन' (ब्राह्मण) वंश (जो सभवत: 'सुकुल'[52]-सुन्दर कुल ब्राह्मण की एक प्रजाति) में उत्पन्न हुए थे। उनका ज मोत्सव भी मनाया गया था[53] किन्तु किसी उन्हें माता पिता के प्यार से बचित हो जाना पड़ा[54]

शायद उनके बचपन का नाम 'रामबोला'[55] था। टूअर तुलसी (रामबोला) के बचपन का जीवन अधिक कष्टमय रहा।[56] भीख मांगकर पेट पालना पड़ा।[57] इसी क्रम मे सयोगवश उन्हें गुरु-नर रूप हरि (नरहरि) मिले।[58] बचपन मे सुनी 'राम-कथा'[59] तुलसी ने गुरुमुख से 'सूकरखेत' में पुन. नये ढंग से सुनी। तुलसी ने विभिन्न शास्त्रों इत्यादि का विधिवत् अध्ययन शायद नहीं किया होगा,[60] पर गुरु-मुख से सुनी पौराणिक कथाओं एवं विभिन्न शास्त्रों के उपदेशों ने उनके उर्वर मस्तिष्क और श्रद्धालु एवं जिज्ञासु हृदय में अमिट स्थान बना लिया होगा। असंभव नहीं कि तभी उन्हें 'तुलसी' नाम मिला हो, जिसमें आगे चलकर उसके भक्त रूप में विख्यात होने पर 'दास' शब्द संयुक्त हो गया।[61] इस प्रकार वे रामबोला से तुलसी और पुन तुलसी से तुलसीदास बन गये। युवक तुलसी ने विवाह कर घर भी बसाया- यौवन ज्वर से ग्रस्त हुआ।[62] तुलसी अविवाहित रहा हो, इसके सम्बन्ध में अन्त.साक्ष्य से प्रमाण नहीं जुटाये जा सकते हैं। पुन: इसके लिए प्रमाणाभाव है कि वे घरबासी से बैरागी क्यों बने। किन्तु यह सत्य है कि उन्होंने गृहस्थाश्रम का परित्याग किया। विभिन्न प्रकार की पूजा-उपासनाओ और धार्मिक मत-मतान्तरों में से उन्हें राम की भक्ति करने का मार्ग-दर्शन गुरु से पहले ही मिल चुका था।[63] अत:, तुलसी ने राम भक्ति को ही 'राजडगर' मान लिया। उन्होंने विभिन्न तीर्थ-स्थानों की यात्राएँ भी कीं। अयोध्या में रहते समय ही उन्होंने 'रामचरितमानस'[64] की रचना प्रारंभ की। उन्होंने कई अन्य रचनाएँ भी कीं। रामभक्त के रूप में प्रख्यात होने पर उन्हे पर्याप्त सामाजिक मर्यादा और 'गुँसाई' और 'महामुनि' की उपाधियाँ भी मिली थीं।[65] कवि के जीवन के अन्तिम वर्ष काशी में बीते। वहीं उनका देहावसान हुआ। विभिन्न तीर्थ-स्थलों में से उनके व्यक्तित्व को प्रभावित करनेवालों में चित्रकूट, प्रयाग, अयोध्या और काशी ने गहरी भूमिका निभायी। काशी में रहते समय ही उन्होने राम-कथा और राम-भक्ति के प्रचारार्थ 'रामलीला' (मेधा भकत के साथ मिलकर) को नया रूप दिया। राष्ट्र को नैतिक और भौतिक समृद्धि प्रदान करने के लिए, हनुमान-उपासना को प्रचारित करवाया। कहा जाता है कि काशी में ही उन्होने कई हनुमान-मूर्तियों की प्रतिष्ठा करायीं और उनके समक्ष अखाडों में मल्ल-क्रीडा को प्रोत्साहित किया। उनके परिचितों मे उस समय की बहुत बडी हस्तियाँ भी थीं। इस दृष्टि से अब्दुल रहीम खानखाना, टोडरमल खत्री आदि के नाम लिये जा सकते है। तुलसी का अंतिम जीवन अपेक्षया कष्टमय बीता था।[66] इस प्रकार वे जीवन पर्यन्त अपने लक्ष्य की सिद्धि की सेवा और सामाजिक संगठन को मूर्तता प्रदान करने मे लगे रहे

अतः, स्पष्ट होता है कि शंकरदेव की ही तरह तुलसी का समूचा जीवन संघर्षमय रहा। कई दृष्टियों से तुलसी का जीवन शंकरदेव की अपेक्षया अधिक कष्टमय भी रहा। बचपन में माता-पिता के द्वारा परित्यक्त एवं समाज द्वारा अवहेलित तुलसी को यौवन में अपनी पत्नी से भी संभवतः निराशा ही मिली। अत आकस्मिक नहीं कि 'अनाथ' तुलसी जगन्नाथ राम को पाकर 'सनाथ' हो गया और 'भली भारत भूमि' और 'सुकुल' मे जन्म लेने के कारण उन्हें भारत की दीन-दशा के प्रति चिंतित होना, वंश-मर्यादा के अनुरूप सद्‌विचार और सद्-कार्य के द्वारा समाज को स्फूर्ति देने- विभिन्न भक्ति-पंथों मे से राम-भक्ति को 'राज-डगर' के रूप मे प्रचारित करने के लिए अडिग विश्वास दिया। काशी की पारम्परीण रूढ शैव-भूमि पर जमकर रामभक्ति की पताका को गौरव से फहराने में सफलता न केवल उन्हें अडिग विश्वास के कारण मिली, बल्कि महामारी जैसी भयंकरता की स्थिति में उनकी मानवीय भूमिकाएँ भी सहायक बनीं। वे न केवल शारीरिक कष्ट से पीड़ित रहे, बल्कि समाज के विभिन्न तबकों द्वारा उत्पन्न की जानेवाली बाधाएँ भी उनके मानसिक कष्ट को बढ़ाती रहीं[67]। राम के मुख से 'निसिचरहीन करौं मही' के उद्‌घोष के लिए तुलसी ने जहाँ तत्कालीन विधर्मी मुगलों के शासन को चुनौती दी, वहीं 'दरिद-दसानन' और 'मोहरूप-रावण' को समाप्त करने का आश्वासन दिला कर समाज को आर्थिक और नैतिक स्थिरता प्रदान करने के लिए भी आश्वस्त किया। यह सब इसीलिए संभव हो सका कि तुलसी का व्यक्तित्व आंतरिक और बाह्य संघर्षों की अग्नि में तपकर ही खरा और अडिग बन सका था। परिणामतः वे एक ही साथ श्रेष्ठ भक्त, अद्वितीय साहित्यकार और विचारक (राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक इत्यादि) के रूप में आज भी प्रायः सर्वमान्य हैं।

तुलसीदास की रचनाएँ : विभिन्न विद्वानों के अध्ययन-अनुसंधान के परिणाम स्वरूप तुलसीदास के नाम से प्राप्त होनेवाली रचनाओं की संख्या 53 तक पहुँचती है, जिनमें उनचालीस रचनाएँ अप्रमाणिक, एक रचना अर्द्ध-प्रामाणिक, शेष बारह रचनाएँ प्रामाणिक मानी जाती हैं[68]। प्रामाणिक रचनाएँ निम्नांकित हैं-

1. वैराग्य संदिपनी — 2. रामाज्ञा प्रश्न
3. रामलला नहछू — 4. रामचरितमानस
5. जानकीमंगल — 6. पार्वतीमंगल
7. गीतावली — 8. कृष्णगीतावली
9 विनयपत्रिका — 10 दोहावली
11 — 12 — समेत

वैराग्यसंदिपनी : यह बासठ छन्दों की मुक्तक रचना है। इस काव्य में चार भाग हैं-- बन्दना, संत- स्वभाव वर्णन, संत-महिमा वर्णन तथा शांति वर्णन। ब्रजावधी भाषा में रचित इस मुक्त काव्य में कोई कथा नहीं है, केवल वैराग्य की प्रधानता है।

रामाज्ञाप्रश्न : किवदन्ती के अनुसार अपने ज्योतिषी मित्र पं गंगाराम के लिए तुलसी ने रातभर में रामाज्ञाप्रश्न की रचना की। शुभाशुभ शकुनों के विचार के लिए सात सर्गों में विभाजित काव्य में कुल 343 दोहे है। यह स्फुट काव्य राम-कथा पर आधारित है, जिसमें 'रामचरितमानस' की कथा से कुछ भिन्नताएँ हैं।

रामललानहछू : सोहर छन्द में रचित 'रामललानहछू' में राम के नखच्छेद सस्कार का वर्णन है। इसकी भाषा अवधी है, जो लोकभाषा के अधिक निकट है। विभिन्न संस्कारों के अवसर पर इसके छन्द गाये जाते हैं।

रामचरितमानस : तुलसीदास की श्रेष्ठतम कृति 'रामचरितमानस' विश्व-साहित्य के श्रेष्ठतम महाकाव्यो में गिना जाता है। डॉ. उदयभानु सिंह के अनुसार 'रामचरितमानस हिन्दी-काव्यमाला का सुमेरू है। वह एक अनूठा महाकाव्य है जिसमें भक्ति की भूमि पर इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, कथाकाव्य, चरितकाव्य और लोक-काव्य का अद्‌भुत समन्वय किया गया है। उसका नायक परब्रह्म परमेश्वर है। उसकी पुरातन प्रतिपाद्य-वस्तु में नवीनता की कमनीय कांति है। उसका अगी रस भक्तिरस है। उसमें सुन्दर कवित्व और शिव मोक्षतत्त्व की अलौकिक द्विवेणी है।'[69] रामकथा पर आधारित 'रामचरितमानस' में जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा की गयी है। इसकी महानता उच्च एवं आदर्श चरित्रों के निर्माण मे है। इस महाकाव्य की मुख्य कथावस्तु रामजनम से लेकर राजा राम के वृत्त-वर्णन तक है। कवि ने कथानक को सवाद-शैली में प्रस्तुत किया है तथा सात सोपानों में विभाजित किया है- 'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना।'[70] पुनः 'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पथाना।'[71] इस काव्य की भाषा शुद्ध, परिष्कृत, परिमार्जित साहित्यिक अवधी है।

जानकीमंगल : इस लघु खण्ड काव्य में राम-सीता के विवाह की घटना का धारावाहिक वर्णन है। 216 मगल छंदों में तुलसीदास ने अवधी भाषा में इस काव्य की रचना की है। इस काव्य का कथानक 'रामचरितमानस' के राम-विवाह वर्णन से संक्षिप्त है। कवि ने इस काव्य में वैवाहिक संस्कारों का इतना सूक्ष्म वर्णन किया है कि जिससे यह   का अधिक निकट हो सका है

पार्वतीमंगल : तुलसीदास के इस खण्ड काव्य में शिव-पार्वती के विवाह का क्रमबद्ध वर्णन है। इस काव्य में कथानक का कोई विभाजन सर्गों में नहीं किया गया है। तुलसी ने इस मंगल-काव्य में वैवाहिक रीति-रिवाजो, परम्पराओं तथा व्यवहारो का सूक्ष्म वर्णन किया है। इस काव्य की भाषा पूर्वी अवधी है।

गीतावली : रामविषयक गीतों का संग्रह 'गीतावली' वस्तुत गीत-बद्ध मुक्तक काव्य है। इस काव्य मे वर्णित राम-कथा का आयाम 'रामचरितमानस' से अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। राम के आविर्भाव से लेकर सीता-निर्वासन तथा लव-कुश के बाल चरित्र तक के विविध प्रसंगो को इस काव्य में समेटा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'गीतावली' की रचना सूर के कृष्ण काव्य से प्रभावित होकर की गयी है, क्योकि राम का बाल-जीवन अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से वर्णित हुआ है। 'गीतावली' का वस्तु विभाजन सात काण्डों मे हुआ है। इसमें गीतिकाव्य के अनुकूल स्वाभाविक प्रवाह तथा माधुर्य है। भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है।

कृष्णगीतावली : श्रीकृष्ण-लीला से सबंधित 61 पदों का संग्रह है। 'कृष्णगीतावली' में बालक की तोतली बोली से उत्पन्न मातृ-हृदय के आनन्द से लेकर गोपी-उद्धव संवाद प्रसंग तक घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन है। इस काव्य मे वात्सल्य तथा शृंगार रसों का उत्तम परिपाक हुआ है। काव्य-भाषा ब्रजभाषा है।

विनय-पत्रिका : वस्तुतः 'विनय-पत्रिका' कलियुग से त्रस्त रामशणागत तुलसी का आत्म-निवेदन है, जिसमें अपनी हीनता-दीनता को अभिव्यक्त करते हुए राम की उदारता, महानता, पतित-पावनता, शरणावत्सलता का वर्णन किया गया है। 'विनय-पत्रिका' के पदों में तुलसी ने प्रेमरूपा भक्ति के विविध साधनों का उल्लेख किया है, जिसमें लोकमंगल की भावना निहित है। साहित्यिक-दार्शनिक दृष्टि से तुलसी की यह पौढ़ कृति कही जाएगी। गीति-शैली के साथ इस काव्य की रचना दरबारी-अरजी की शैली में हुई है। 'विनयपत्रिका' की भाषा भावानुरूपिणी प्राजल तथा परिमार्जित ब्रज है। भक्तजन 'विनयपत्रिका' को तुलसी के भक्तिसिद्धान्त का ब्रह्मसूत्र[72] मानते हैं।

दोहावली : समय-समय पर लिखे गये दोहों का संग्रह है। 'दोहावली' मुक्तक काव्य है। वर्ण्य-विषय का आयाम विस्तृत है। राम-नाम की महिमा राम-प्रेम की महत्ता, राम की शरणागत वत्सलता, भक्त-लक्षण, साधु-असाधु-लक्षण, सगुण-निर्गुण की पारस्परिकता से लेकर राजनीति, समाजनीति, चारित्रिक गुण इत्यादि विभिन्न प्रासंगिक विषयों को कवि ने समाविष्ट किया है। ब्रजभाषा की यह एक सफल कृति है

बरवै रामायण : तुलसी के समय-समय पर लिखे गये बरवै छन्दो का सग्रह 'बरवै रामायण' है। काव्य का विभाजन सात काण्डो में होने पर भी कथानक मे कोई श्रृंखला नहीं है। काव्य-भाषा अवधी है।

कवितावली : वस्तुत: 'कवितावली' एक सग्रह-ग्रंथ है, जिसमें तुलसी के समय-समय पर लिखित छन्दों की संग्रह किया गया है। 'रामचरितमानस' की भाँति 'कवितावली' का विभाजन सात काण्डों में किया गया है, परन्तु उनमें संतुलन का अभाव है। उदाहरण के रूप में अरण्य-काण्ड और किष्किन्धा काण्ड में केवल एक-एक छन्द है, उनमें भी किष्किन्धा-काण्ड का छन्द सुन्दरकाण्ड का है। वस्तुत 'कवितावली' राम कथा के खण्ड चित्रों की चित्रशाला है, जिसके साथ कवि ने तत्कालीन समाज और जीवन को अधिक प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किया है। विशेषत: 'कवितावली' के 'उत्तरकाण्ड' और 'हनुमानबाहुक' में कवि का यथार्थवादी दृष्टिकोण अधिक मुखर हुआ है। 'कवितावली' की भाषा ब्रजभाषा होने पर भी अवधी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

तुलसीदासकालीन परिस्थितियाँ

गोस्वामी तुलसीदास का स्वरूप लोकनायक का था। दिशाहीन समाज को सही दिशा प्रदान करना उनका परम लक्ष्य था। लोकमंगल की भावना से समाज मे मर्यादा को स्थापित करनेवाले तुलसी को अपने समकालीन वातावरण ने काफी झकझोड़ा था, प्रेरित-प्रभावित किया था। अत: तुलसीदास की विचारधारा के सही मूल्यांकन के लिए तुलसीयुगीन परिस्थितियों पर विचार करना अपेक्षित है।

(क) राजनीतिक : तुलसीदास (1532-1623 ई.) शंकरदेव की तरह न तो किसी राजघराने में पैदा हुए थे और न उन्होंने कभी राज्य-शासन ही संभाला था। इसके बावजूद वे तत्कालीन राजनैतिक वातावरण से अछूते नहीं थे। उनके जैसे 'सत' को 'सीकरी' से कोई लेना-देना भले ही न रहा हो, पर सीकरी के शासको की काफीरों पर नजर तो थी ही।

तुलसी का सारा जीवन राजनैतिक दृष्टि से मुगलकालीन जीवन है। हुमायूँ, (शेरशाह शूरी), अकबर और जहाँगीर के शासन तंत्रों को तुलसी ने देखा और भोगा था। राजनैतिक दृष्टि से अकबर पूर्व की राजनीति को न केवल समाप्त किया बल्कि इस्लाम के फौजी शासन को उसने इस्लामी राजतंत्र में परिवर्तित भी किया था अकबर के प्रारंभिक दस प द्रह वर्ष भी निरन्तर युद्ध और छोटे मोटे

राज्यों को मुगल साम्राज्य में विलीन करने में ही बीता था। अकबर की प्रच्छन्न उदारता ने पूर्व आक्रामक इस्लामी राजनीति को कूटनीति में परिवर्तित किया। इस्लामी-पंजा 'दीने-इलाही' जाल बना। तीर्थ-यात्रा कर और 'जजिया' समाप्त कर दिये गये, पर हिन्दू बेटियाँ हरम की हूर बनती रहीं।

तत्कालीन इस्लामी शासन ने राजनैतिक लक्ष्य प्राप्त करने और उसे स्थिर बनाये रखने के लिए धर्म को साधन के रूप में स्वीकार किया। यही कारण था कि उस समय अनेक हिन्दू मन्दिर ध्वस्त किये गये और उनके स्थान पर उनकी ही सामग्री से अनेक मस्जिद और मकबरे खड़े किये गये[73]। वैयक्तिक स्वार्थ इत्यादि के कारण अनेक हिन्दू-राजाओं ने भी स्वेच्छा से अपनी बेटियों को दिल्लीश्वरों की हरम में पहुँचाया[74]। चूँकि अधिकांश प्रजा मूलत. हिन्दू और कृषक थी। अत, सभवत: वे विधर्मी होने के कारण ही शोषण के बहुत बडे शिकार हुए। परिणामत सामान्य जन की आर्थिक हालत और बिगड़ती गयी[75]। तात्पर्य यह कि तत्कालीन राजनीति ने अपनी स्थिरता के लिए समाज को हर प्रकार से कमजोर बनाने की चेष्टा की। वस्तुत: तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक अवस्थाएँ इस्लामी राजनीति का आनुषंगिक परिणाम थीं।

(ख) **सामाजिक** : भारतीय समाज की संरचना में विभिन्न जातियों-उपजातियो का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। तुलसीकालीन समाज पर विचार करने का अर्थ है- तत्युगीन उत्तर भारतीय समाज पर विचार करना जिसकी संरचना में हजारो वर्ष पूर्व से आर्यो के अतिरिक्त किरातो (यक्ष, गन्धर्व, किंपुरुष आदि), निषादों एव विन्ध्य क्षेत्र की विभिन्न जातियों (शवर, पुलिन्द) आदि की मुख्य भूमिका रही है। पुन विभिन्न समयों में विदेशों से आगत पारसीक, यवन, पल्लव, शक, तुषार (कुषाण) आदि जातियो का भी संविलियन उसी मे हो गया। तुलसी के समय उक्त पारम्परीण समाज की संज्ञा यद्यपि हिन्दू थी, तथापि उनमें आचारगत भेद बहुत अधिक थे। वर्ण-संकर जातियों में वृद्धि हुई थी। परम्परागत युद्धों में भी भेदाभेद बढ गये थे। विदेशी जातियों को आत्मसात करने एव पारम्परीण वैदिक परम्परा विरोधी आचारभ्रष्टों को पूर्ण रूपेण ग्रहण न करने के परिणाम-स्वरूप हिन्दू समाज के आंतरिक संगठन और सुसम्बद्धता में शिथिलता आ गयी थी। आश्रम व्यवस्था की कौन कहे, वर्ण-व्यवस्था भी समाप्त हो रही थी। उनकी व्यावहारिकता छोटे-मोटे पथ-उपपथों और छूआछूत विषयक विधि-निषेधों तक कठोरतापूर्वक सीमित हो चुकी थी। एक प्रकार से वह सामाजिक विघटन और विभाजन के दौर से गुजर रहा था ऊपर से इस्लाम का बढता और जकड़ता हुआ पजा उसे और झकझोर रहा

था। सामूहिक धर्मान्तरण में अनेक निम्न हिन्दू जातियाँ इस्लाम को स्वीकार कर चुकी थीं। अनेक अत्युच्च और प्रतिष्ठित लोग भी भय अथवा लोभवश इस्लाम के अनुयायी हो जाते थे।

धार्मिक दृष्टि से तुलसीकालीन समाज में दो मुख्य वर्ग थे- (क) हिन्दू और (ख) मुसलमान, पर सामाजिक मर्यादा और आर्थिक सम्पन्नता की दृष्टि से तीन- (क) राजा तथा राज्याधिकारी, (ख) सामान्य जनता और (ग) साधु समाज। व्यक्ति के सामाजिक स्तर के निर्धारण में इस समय भी यद्यपि पारम्परीण चातुवर्ण्य व्यवस्था किसी-न-किसी रूप में कायम थी, पर उसमें बहुत हद तक टूटन आ रही थी। इस दृष्टि से राजे तथा राज्याधिकारियों (हिन्दू और मुसलमान दोनों) का समाज में अधिक बोलबाला था। बड़े-बड़े नवाब, जमींदार, सूबेदार, सामन्त आदि की आर्थिक स्थिति अच्छी होने के कारण समाज में वह वर्ग अधिक प्रभावशाली था। उनकी आय के मुख्य साधन कृषि और जमींदारी थे या शासकीय विभाग में नियुक्त होने के कारण अधिक वेतन प्राप्त करना। युद्ध व्यवसायियों को भी राजकोष से वेतन एवं जीविका के लिए पर्याप्त साधन प्राप्त थे।

द्वितीय वर्ग मे कृषक, व्यवसायी, पुरोहित, कलाकार, मजदूर आदि आते थे। अल्प वेतन भोगियों को भी इस वर्ग में रखा जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से इस वर्ग की स्थिति बहुत दयनीय थी। प्रथम वर्ग इनका न केवल आर्थिक बल्कि दैहिक शोषण भी करता था। समाज की सारी दु.ख-दुर्दशा इन्हें ही भोगनी पड़ती थी। इतिहासकार डॉ. ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में- 'गरीब माता-पिता अपने बच्चो को रोटियों पर नौकर रख लेते थे और कभी-कभी उन्हें बेचकर गुलाम बना देते थे।

व्यवसाय का यह हाल था कि कुछ लोग अपने-अपने रोजगार धन्धे छोटे-छोटे पैमानों पर कर श्रमजीवियों के समान अपनी गुजर-बसर करते थे और कुछ अकबर के द्वारा स्थापित राज्य के कारखानों में, जिनमें कुछ कीमती वस्तुएँ तैयार कराई जाती थी, मजदूरी कर अपना पेट पाला करते थे, परन्तु यह कार्य, इतनी भारी जन-संख्या के लिए पर्याप्त नहीं था।[76] फलत: महामारी, दुर्भिक्ष होने पर इनलोगों के बीच त्राहि-त्राहि मच जाती थी। सन् 1555-56, सन् 1573-74 और सन् 1595-98 तक होनेवाले तीन दुर्भिक्षों एवं साथ में होनेवाली महामारियो के तुलसी प्रत्यक्ष दर्शक थे। उन दुर्भिक्षों के फलस्वरूप 'मनुष्य-मनुष्य को खा जाते थे और रास्तों पर पड़े हुए मृतकों के कारण रास्ते रुक गये थे तथा उन्हें हटाने के लिए कोई नहीं मिल सक्ती थी[77] जनता की दुर्दशा देखकर भी राजे या वर्ग तटस्य होकर अपने सुखाभिलाष के प्रति पमर्पित रहते थे[8]

ाजा की 'कहाँ जाई का करी'[79] की अवस्था देखकर तुलसी का हृदय दहल उठता था-

दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबन्धु।
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी।।[80]

तृतीय वर्ग है- साधु समाज का, जो सामाजिक जीवन से मुँह फेरकर आध्यात्मिक जीवन के प्रति उन्मुख रहते थे। इन लोगो को समाज से कोई लेना-देना नहीं था। आर्थिक दृष्टि से मजबूर या पारिवारिक जीवन से ऊबनेवाले लोग भी इन साधुओं के साथ मिलकर मानसिक शांति प्राप्त करते थे। अधिकतर साधु तत्त्वान्वेषी नहीं, नाम मात्र के ही साधु होते थे। उनसे धार्मिक-पाखण्ड को बढ़ावा मिलता था।[81] तुलसी ने ऐसे साधुओं पर पर्याप्त टिप्पणियाँ की हैं।

नारियों की स्थिति अति दयनीय थी। राजा एवं राजन्यवर्ग के लिए नारी वासना की सामग्री बन चुकी थी। महफिलों में नर्तकियों, वेश्याओं का जमघट बढ़ने लगा था। बाल-विवाह एवं पर्दा-प्रथा थी। सती-प्रथा को प्रोत्साहित किया जाता था। बहुपत्नीत्व का प्रचलन था। सौन्दर्योपासना क्रूर वासनात्मक लिप्सा में पर्यवसित हो रही थी। इसलिए नारी को विश्वास होने लगा था कि संसार में स्त्री का जन्म ही वृथा है।[82]

खान-पान, रीति-रिवाज की दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान में स्पष्ट भेद था। शासन में अधिकांश अधिकारी मुस्लिम होने के कारण मुसलमानों को संरक्षण का अभाव नहीं था। उन्हे जागीर या अधिक वेतनवाली सरकारी नौकरियाँ मिल जाती थीं। हिन्दुओं को ऐसी अतिरिक्त जाति-उपजाति तथा छुआछूत के भेद के कारण हिन्दुओ का जीवन प्राय: खोखला होता जा रहा था।

शिक्षा मुख्यत: धार्मिक थी। गुरु-गृह, टोल या मठ-मन्दिर ही शिक्षा केन्द्र हुआ करते थे। ये केन्द्र शिष्यों की गुरु-दक्षिणा अथवा सामन्ती अनुदान पर चलते थे। तुलसीकालीन भारतवर्ष मे इस प्राचीन शिक्षा-पद्धति के अतिरिक्त अरबी-फारसी की शिक्षा भी प्रचलित थी। टोडरमल द्वारा सरकारी लिखा-पढी फारसी में किये जाने की घोषणा के पश्चात् लगान-विभाग के छोटे-छोटे पदों की नौकरी तक प्राप्त करने के लिए हिन्दू लड़के भी फारसी पढ़ने लगे थे। मुगल शासन मे राजभाषा फारसी थी।[83] फलत: प्राचीन गुरुओं के स्थान पर मौलवी और हाफिज और प्राचीन टोल एवं मठों-आश्रमों के स्थान पर मदरसों की संख्या बढ़ने लगी थी। अब शिक्षा धर्म-प्रधान न होकर पेटार्थी हो गयी थी। माता-पिता भी बच्चों को ऐसी शिक्षा के प्रति प्रोत्साहित करने लगे थे। तुलसी ने 'पेट को पढत'[84] के प्रति टिप्पणी[85] की है

अत:, स्पष्ट होता है कि तुलसीकालीन समाज मे अनेक विसगतियां घर कर चुकी थीं। उस समाज में न न्याय की कोई व्यवस्था थी, न जनता को स्थानीय अधिकार ही प्राप्त था।[86] हिन्दुओं को शासक-वर्ग के शोषण का शिकार बनना पड़ता था। उनके दुख-दर्द को समझनेवाला कोई नहीं रह गया था। यद्यपि मुगल-शासन ने अपने लाभ के लिए राजनीतिक-सामाजिक स्थिरता प्रदान की थी, समाज मे सुख-शान्ति के प्रति नयी जागृति का संचार करवाया था, पर वे समाज को सम्पूर्णत सुखी-सम्पन्न करने के लिए पर्याप्त न थे। उस समय मुस्लिम जीवन में अधिकतर तथा उसके प्रभाव में जानेवाले कुछ हिन्दू जीवन में अंशत: असयम, सम्पत्तिहरण, विलासिता, मादक-पदार्थ सेवन आदि कुरीतियों तथा अत्याचारों का ही बोलबाला दिखाई दे रहा था। इस स्थिति की पुष्टि तुलसी की रचनाओं के अन्तरंग परीक्षण करने से होती है।

(ग) धार्मिक : धार्मिक दृष्टि से तुलसीकालीन उत्तर भारतीय समाज मूलत हिन्दू और मुसलमानों का था। हिन्दू जन-समाज भी स्पष्टत: दो वर्गों में बँटा हुआ था। पहला वर्ग वह है जिसका नियंत्रण ब्राह्मण व्यवस्था तथा स्मृत्यादिक धर्मग्रन्थो के अनुसार होता था। दूसरा वर्ग वह था जो इन धर्मग्रन्थों और उनके विधानों की चिन्ता नहीं करता था। यह वर्ग मोक्ष-साधन के लिए वर्णाश्रम-व्यवस्था को अनुपयुक्त मानता था एवं अकाल संन्यास का विश्वासी था। यह अपने को अतिवर्णाश्रमी कहता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वर्ग के संन्यासियों की परम्परा भी अति प्राचीन समय से ही भारत में शुरू हुई थी। संभवत: बौद्धमत के अभ्युदय के पूर्व ही संन्याश्रम विरोधियों एवं विशेषकर याज्ञिक क्रियाओं में अविश्वास करनेवालों का एक वर्ण विशेष पनप चुका था। 'श्वेताश्वेतरोपनिषद' का ज्ञान 'अन्याश्रमी' लोगो के लिए स्वीकार्य हुआ।[87] शंकराचार्य ने 'अन्याश्रमी' का अर्थ 'अत्यन्त पूजनीय आश्रमवाला' एवं स्मृति के आधार पर 'परमहंस' संन्यासी[88] किया है। अस्तु, कहा जायेगा कि अति प्राचीन काल से ही सन्यासियों का एक ऐसा वर्ग भी था जो याज्ञिक क्रियाओ में अविश्वास करता था अथवा उसका विरोधी था जिसकी संज्ञा 'अन्याश्रमी' या 'अतिवर्णाश्रयी' थी। वेद-विरोधी बौद्धों ने अतिवर्णाश्रयी यानी 'अकाल संन्यास' की एक दूसरी ही दिशा दी, जिसका निर्वाध प्रचार कुमारिलभट्ट और शंकराचार्य के उदयकाल तक होता रहा था। नौवीं-दसवीं शती तक आस्तिक षड्दर्शनों का सगठित होकर नास्तिक सम्प्रदायों का खण्डन करना, कुमारिल का पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए कर्म (मानव प्रयत्न) को वैदिक रीति से पुनर्प्रतिष्ठित करना शकराचार्य का नागार्जुन की पद्धति का ही अनुसरण करते हुए वैदिक मत की

तर्काधारित ज्ञानपरक व्याख्या कर विभिन्न शैव संन्यासियों का संगठन करना आदि कुछ ऐसे कार्य हैं जिससे हिन्दू-समाज में धर्म का पुनर्व्यवस्थापन हो चलता है। किन्तु तब भी कुछ वैदिक-अवैदिक मत बचे ही रह जाते हैं जिन्हें प्राचीन माहेश्वर मत के अन्तर्गत विकसित नाथ-पंथ में गोरखनाथ जी आगे चलकर संगठित करते हैं। इसमें आश्रम व्यवस्था अमान्य रहती है। इसीलिए ये 'अतिवर्णाश्रयी' या 'पंचमाश्रयी' भी कहे जाते हैं। तुलसी के समय तक इस व्यवस्था मे भी विखराव आता है और 'अकाल संन्यासियों' के रूप में शैव-शाक्त मत के विभिन्न प्रकार के अनुयायी समाज में दिखायी पड़ते हैं।

नाथ-योगी सम्प्रदाय के हठयोगी और बौद्धों के वज्रयानी सिद्ध समाज में तांत्रिकता और अलौकिक चमत्कार दिखाकर लोगों को चमत्कृत कर रहे थे। फलत: निर्धन, अशिक्षित तथा पराजित लोग तरह-तरह के गुमराह होने लगे थे[89]। वे समाज में पाखण्डी आचारों[90] को बढ़ावा दे रहे थे। तुलसी ने ऐसे धर्म को 'तामस'[91] धर्म की आख्या दी है। ब्राह्मण-विरोधी बौद्धों इत्यादि का इस्लाम को सामूहिक रूप से अपनाने[92] और जैनों के यौन-भ्रष्टाचारों[93] से समाज की धार्मिक-स्थिति चिन्तनीय हो रही थी। तुलसी द्वारा उल्लिखित 'सरावग', 'सेवडा', 'अघोरी', 'भूत-पूजक', 'भेड़ियाधसॉन' प्रवृत्ति, 'श्मशान-सेवी साधकों'[94] को इसी परिप्रेक्ष में समझा जा सकता है।

शंकराचार्य परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रवर्तित विभिन्न दार्शनिक मतों के आधार पर विकसित भक्तियों मे उत्तर-भारत में रामानन्दी मत अपेक्षया अधिक लोकप्रिय हुआ। कुछ अन्य मत भी पनपे। परिणामत: उपासना में सगुण के अतिरिक्त निर्गुण मार्ग भी विकसित हुआ। इस समय के धर्मो के विखण्डित रूपो के बारे मे डॉ. राजपति दीक्षित का कथन है- 'पहले शैव एवं वैष्णव का ही भेद था। पर कालान्तर मे इन दोनों के सैकड़ों टुकड़े हो गये। इस प्रकार शाखा-प्रशाखाओ की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई और उसका परिणाम हुआ धार्मिक-शक्ति की छिन्न-भिन्नता। इन्हीं में कबीर, नानक, दादू, आदि के पथों की ऐसी प्रशाखाएँ भी थीं जो वैदिक धर्म की कट्टर विरोधिनी थीं। इनके कारण वैदिक सनातन धर्म का ह्रास अनिवार्य था[95]। शाक्त-पंथ भी दक्षिण-मार्गी और वाममार्गी श्रेणी में विभक्त होकर सामाजिक जीवन में अनाचारों को जन्म दे रहा था। शाक्त देवियाँ- चण्डी, वाशुली, विषहरी आदि की पूजाएँ प्रचलित थीं[96]।

इस्लाम धर्म में 'शरा' और 'वेशरा' दोनो श्रेणियों में 'मलामती' कहानेवाले वेशरा से सूफी सम्प्रदाय चल पडा था मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन इस

से भी अप्रभावित न रहा। तुलसी के समय तक इस सम्प्रदाय की चिश्ती, कादिरी, सुहरावर्दी, नक्शबन्दी और शत्तारी शाखाएँ फैल चुकी थीं। इस सम्प्रदाय की प्रेमा-भक्ति ने हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्गों को प्रभावित किया था[97]।

मध्यकालीन धार्मिक अस्वस्थता के इस वातावरण में ही तुलसीदास ने राम की सगुण उपासना को महत्त्व दिया। उनके समय तक धर्म में पाथिकता बढ़ती जा रही थी। पाखण्डों एव चमत्कारों से धार्मिक जीवन की पवित्रता विनष्ट हो रही थी। उसे देखकर ही तुलसी को ऐसा लगा था कि धर्म नाम की कोई चीज बची नहीं रह गयी है,[98] क्योंकि धर्म का कल्याणपरक रूप एवं समाज को बांधनेवाला तत्त्व (धारणात् धर्म इति आहु) लुप्त हो जाने से एक तमिश्राच्छन्न स्थिति व्याप्त हो गयी थी। फलत· लोकमर्यादा का उल्लंघन, समाज की व्यवस्था का तिरस्कार, अनाधिकार चर्चा, भक्ति और साधुता का मिथ्या दंभ, मूर्खता छिपाने के लिए वेद शास्त्र की निन्दा, ये सब बातें ऐसी थीं जिनमें गोस्वामी की अन्तरात्मा बहुत व्यथित हुई[99]। असभव नहीं कि इस धार्मिक पृष्ठभूमि ने तुलसी को लोक-कल्याणमूलक धार्मिक सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित कराने के लिए प्रेरणा दी होगी।

(घ) साहित्यिक : शंकरदेव की तरह ही तुलसीदास को भी सुदीर्घ साहित्यिक परम्परा प्राप्त हुई थी। प्राकृत और अपभ्रंश काव्य-परम्पराओं से जितना लाभान्वित तुलसी हुए हैं, सभवत: शंकरदेव उतने नहीं। कुछ अध्येताओं ने तो 'रामचरितमानस' के रूप विधान को अपभ्रश चरित काव्यों की विकास कड़ी के रूप में ही देखना चाहा है। यों शंकरदेव के जिस व्यवस्थित क्रम से संस्कृत में रचित धर्म-शास्त्रों, पुराणो आदि के अध्ययन के साक्ष्य मिलते हैं, उसी ब्यौरेवार क्रम से तुलसी ने भी अध्ययन किया होगा, प्रमाणाभाव में ऐसा मानना उचित नहीं होगा[100]। किन्तु गम्भीर ईक्षण शक्ति, पैनी प्रतिभा और तीव्र अनुभव से उन्होंने सब का हृदयांगम और आत्मार्पण अवश्य कर लिया था। हाँ, हिन्दी की जितनी सुदीर्घ और सुदृढ़ साहित्यिक परम्परा तुलसी को प्राप्त हुई थी, शंकरदेव को असमिया की उतनी नहीं। तुलसी पूर्व हिन्दी साहित्यकारों में पचासों नाम गिनाये जा सकते हैं। सिद्धों, नाथों और जैनियों की धार्मिक कृतियों के अतिरिक्त दरबारी चारणों का भी विपुल साहित्य रचा जा चुका था। वैष्णव और वैष्णवेतर भक्तियों के साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में तुलसी पूर्व रचित हो चुके थे। कई सूफी कवियों की रचनाएँ प्रसिद्ध हो चुकी थीं। राम-भक्ति के निर्गुण रूप का कबीर गान कर चुके थे। उसकी अलग परम्परा बन चुकी थी। वृन्दावन को केन्द्र मानकर कृष्ण-भक्ति भी जड़ें जमा चुकी थीं और अष्टछाप की आठ वीणाएं भी जोर शोर से बज रही थीं अस्तु, यह स्वीकार करना पड़ता है कि

तुलसी के पूर्व हिन्दी में भक्तिकाल की पर्याप्त रचना हो चुकी थी। यहाँ तक कि राम-वृत्त और राम-भक्ति से सम्बन्धित भी निम्नांकित रचनाएँ तुलसी पूर्व हो चुकी थीं, यथा-

वैष्णव-परम्परा का साहित्य :

1. चंद बरदाई- रामचरित (पृथ्वीराज रासो के अन्तर्गत 'दशावतार चरित' - दूसरा समय)।
2. रामानन्द- (क) रामरक्षास्तोत्र, (ख) कतिपय हिन्दी रचनाएँ।
3. विष्णुदास- रामायण, 1443 ई
4. ईश्वरदास- भरत विलाप, 1501 ई.
5. सुन्दरदास- हनुमान चरित, 1559 ई.
6. सूरदास- रामाख्यान (सूरसागर, नवम स्कन्ध)
7. अग्रदास- (क) रामाष्टायाम, (ख) रामध्यान मंजरी, (ग) राम ज्यौनार।

जैन-परम्परा का राम-साहित्य :

1. मुनि लावण्य- रावण-मन्दोदरी संवाद, 1500 ई
2. जिन विजय सुरि- रावण-मन्दोदरी संवाद
3. ब्रह्मजिन दास- (क) रामचरित, 1559 ई (ख) हनुमंतरास 1559 ई
4 ब्रह्मराय मल- हनुमंतदानी कथा
5 गुणकीर्ति- सीताराम
6. विनय समुद्र- पद्म चरित्र
7. हेमन्त सूरि- सीता चरित्र।

उपरि तालिका से स्पष्ट है कि तुलसी के पूर्व दशाधिक कवियो ने राम-वृत्त को हिन्दी में उपस्थित किया था। असंभव नहीं कि इनमें जैन परम्परा की राम-कथा को तुलसी ने नहीं देखा हो, पर वैष्णव परम्परा की राम-कथाओ से उनके परिचय न होने की कल्पना नहीं की जा सकती। विष्णुदास की 'रामायण' और तुलसीदास के 'मानस' के तुलनात्मक अनुशीलता से इस अनुमान की पुष्टि होती है।[101] तुलसी की रचनाओं में वाममार्गी शाक्तों, निर्गुणियों, साखी-सबदी दोहरा कहनेवालों संतों और सूफियों के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। कृष्ण को राम से अभिन्न मानने के कारण ही उन्होंने हिन्दी में रचित पूर्ववर्ती सूर आदि की रचनाओं से भी लाभ पाया होगा। कुछ अध्येताओं ने सूर रचित रामाख्यानक पदों की छाया भी तुलसी की रचनाओं में दिखाने की चेष्टा की है।[102] राम के अतिरिक्त कृष्ण चरित से सम्बन्धित तुलसी की रचनाए जहाँ राम कृष्ण की अभेदता के परिचायक हैं वहीं

कृष्ण-भक्ति के और उपासना के भी। तुलसी द्वारा प्रयुक्त विभिन्न काव्य-रूप, काव्य-शैली और छंद भी पूर्ववर्ती कवियों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। अवधी और ब्रजभाषा मे समान रूप में रचना करना भी उनकी तत्कालीन काव्य-भाषा सम्बन्धी दृष्टि को अग्रसारित करता है। उनके शब्द-भण्डार में अरबी, फारसी शब्दों के विनियोग भी उनकी विशाल साहित्यिक दृष्टि और विभिन्न भाषिक परम्परा के परिचायक हैं।

तुलसी ने 'राम-लीला' को नये रूप में प्रचारित करने की चेष्टा की थी, पर उसके निमित्त राम-कथा को नाट्य-रूप प्रदान न करना पहली नजर में सचमुच ही आश्चर्य का विषय प्रतीत होता है। किन्तु तत्कालीन इस्लामी शासन मे नाट्याभिनय पर प्रतिबन्ध की जानकारी होने पर वह आश्चर्य का विषय नहीं रहता। तुलसी के समग्र साहित्य को भाव-भाषा, विचार-शैली छंद इत्यादि की दृष्टियों से परीक्षा करने पर उसकी महार्घता का अन्दाज उसकी पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा को ध्यान में रखे बिना नहीं किया जा सकता है। तभी सर्वसम्मति से ऐसा स्वीकार किया जाता है कि उनकी रचनाएँ तत्कालीन साहित्यिक समन्वय का उदात्त रूप उपस्थित करती हैं। वस्तुतः पुष्ट साहित्यिक परम्परा को आत्मसात् करने के कारण ही उनकी रचनाएँ धार्मिक-आध्यात्मिक-साहित्यिक और सामाजिक दृष्टि से मौलिक, अभिनव और अद्वितीय तक बन सकी हैं।

(ङ) सांस्कृतिक : तुलसीकालीन उत्तर भारतीय समाज, मुख्यतः दो विरोधी विचारधाराओ और संस्कृतियों के टकराव से गुजर रहा था। भारत पर राजनीतिक विजय प्राप्त कर इस्लाम ने अपनी प्रभुता स्थापित तो कर ली थी, पर उसे सास्कृतिक विजय मे परिवर्तित करने के लिए जहाँ विभिन्न आचार्य प्रयत्नशील थे, वहीं अनेक भक्त-कवि भी लोक-मानस को उदबुद्ध कर रहे थे। उनमें तुलसी का व्यक्तित्व सर्वाधिक गत्वर था। 'करब साधुमत लोकमत, नृपनय निगम निचोरि'[103] और 'लोक बेद मत मंजुल कूला'[104] को आदर्श मानकर तुलसी पारम्परीण भारतीय सस्कृति के संरक्षण, पुनर्जीवन और संवर्द्धन के लिए सचेष्ट थे। यही कारण है कि तत्कालीन विभिन्न अवैदिक पंथों के निराश और 'श्रुतिसम्मत पथ' के न्यास के लिए वे 'साधुमत' और 'लोकमत' में समन्वय कर रहे थे। यह दृष्टि उन्हें कुछ तो प्राचीन ग्रंथों-मुख्यतः पुराणों से मिली थी और कुछ समसामयिक परिस्थितियो से विकसित हुई थी। इस दृष्टि से शिव और विष्णु मे अभेद स्थापन, निर्गुणोपासना और सगुणोपासना को समान महत्त्व देना आदि बातें उदाहृत की जा सकती है। वस्तुतः तुलसी-साहित्य भारतीय-सस्कृति का ताजा फलक है। विशेषत

तो बोलती हुई भारतीय सस्कृति है इस महान ग्रथ के सबध मे

डॉ मागध का कथन है कि 'यदि भारतीय संस्कृति के सभी ग्रंथों का लोप हो जाय और मात्र तुलसी का मानस बच जाय, तो भी हिन्दू-संस्कृति शत-प्रतिशत उसी रूप मे अपना निर्माण कर सकती है- ऐसी अपूरणीय वस्तुस्थिति लेकर सयोजित है रामचरितमानस।''[105] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी का जीवनानुभव ईक्षण-शक्ति और काव्य-संवेदन कितना व्यापक एवं गहरा था, जिनके फलस्वरूप उनका 'रामचरितमानस' शीघ्र ही लोकमानस में व्याप्त हो गया। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार- "Which has become more than the Bible for millions and millions or Hindus in north-India.''[106] लोक-संस्कृति ने समस्त तुलसी-साहित्य को सब प्रकार से पुष्टता तो प्रदान की ही है, विशेषत 'रामचरितमानस' मे उसका विनियोग बहुत सुन्दर हुआ है। डॉ वासुदेव सिंह के शब्दो मे- 'रामचरितमानस' लोक-मत प्रधान ग्रंथ है, जिसमें जनसमुदाय की प्रवृत्तियों, रीति-रिवाजों, उत्सवों, त्यौहारो आदि का सम्यक समावेश मिलता है। उन्होंने मुनिमानस के साथ जनमानस को संपृक्त किया है। मानस में सामाजिक जीवन की व्यापक दृष्टि अपनाई गयी है। कथानायक राम केवल परब्रह्म के अवतार अथवा राजपुत्र नहीं हैं, अपितु उनके प्रत्येक कर्म में लोकधर्म की छाप है। राम के जन्म नामकरण, यज्ञोपवीत, राज्याभिषेक, विवाहादि संस्कार के वर्णन मे लोकमान्य रीतियों का अनुसरण किया गया है। तुलसीदास में वर्णित वास्तुकला, चित्रकला, शोभायात्रा, अस्त्र-शस्त्र आदि समसामयिक हैं। जानकी मंगल, पार्वतीमंगल, रामलला नहछू आदि लोकरीति सम्पन्न काव्य हैं।''[107]

तुलसी की रचनाओं मे पौराणिक देव-देवियो के अतिरिक्त विभिन्न लोक-देव-देवियों, विभिन्न तीर्थों और विभिन्न नदियों इत्यादि की प्राप्त स्तुतियाँ उनके सास्कृतिक लोकनेता रूप को उपस्थित करती हैं, जो शुद्ध रामभक्त वैष्णव होने के बावजूद विभिन्न देवी-देवताओं को समान रूप से महत्त्व देता है। अस्तु, यही कहना पडता है कि तत्कालीन उत्तर-भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में ही तुलसी की विचारधाराओं का सही आकलन संभव है।

निष्कर्ष : शंकरदेव और तुलसीदास की विचारधाराओं को प्रेरित-प्रभावित करनेवाले तत्त्वों के रूप में दोनों की जीवन-रेखाओं, समकालीन परिस्थितियो, साहित्यिक और सांस्कृतिक पीठिकाओ पर विचार करने के उपरांत ऐसा प्रतीत होता है जहाँ तद्युगीन परिस्थितियों ने उन्हें प्रेरित-प्रभावित किया था वहीं जीवन की वैयक्तिक घटनाओं एवं साहित्यिक सांस्कृतिक पीठिकाओं ने उन्हें नयी दिशा और गति दी थी इस दृष्टि से शकरदेव और तुलसीदास दोनो मे साम्य अधिक हैं

वैषम्य कम। जीवन-रेखाओं पर तुलनात्मक दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि माता-पिता के प्यार का अभाव दोनों के जीवन मे रहा। बचपन के इस अभाव को दोनों ने अपने-अपने इष्टदेवों की शरण स्वीकार कर पूरा किया। बचपन के अनाथ शंकर और तुलसी अपने पौढि प्रकर्ष पर पहुँचकर सनाथ बन जाते है। नारी के प्रति समान भक्तिमूलक दृष्टिकोण- 'माया' दोनों में विकसित हुआ है। संघर्ष-प्रधान जीवन ने दोनों को अडिग-स्थिर-दृढ़ निश्चयी, आत्मविश्वासी और विषम परिस्थितियों में भी सही मार्ग-संधान करनेवाला व्यक्तित्व दिया। विभिन्न पंथ-उपपंथों और विभिन्न पूजाचारों में से सहज भक्ति-मार्ग का संधान कर लेना दोनों की समान ईक्षण-शक्ति, पैनी-प्रतिभा और योग्य विचारक होने का परिचायक है।

शंकरदेव तथा तुलसीदास कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियो के आकलन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि दोनों भारतवर्ष के दो भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे उत्पन्न हुए थे, तथापि उनके परिवेश में परिस्थितिजन्य अंतर प्राय: नहीं था। जीवन के पूर्वार्द्ध में दोनों ने राजनैतिक परिवेश को देखा-भोगा था। जीवन के उत्तरार्द्ध मे कोचराज नरनारायण के स्थिर शासन ने जहाँ शंकरदेव को अपनी लक्ष्य-पूर्ति के लिए योग्य परिवेश प्रदान किया, वहीं अकबर-जहाँगीर के शासनकाल ने तुलसीदास को। राजनीति के जंगल-न्याय की किंचित समाप्ति के परिणामस्वरूप समाज मे सुरक्षा का भाव भी जग रहा था, किन्तु तब भी मुगलशासन में हिन्दू प्रजा अपेक्षया अधिक शोषित और प्रताड़ित की जा रही थी। धार्मिक परिवेश अधिक गड्ड-मड्ड था। बाह्याडम्बर, पांथिकता आदि का बोलबाला था। 'भागवत' आधारित नवीन भक्तिमार्ग का उदय हो चुका था। उत्तर-भारत में बल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित कृष्ण भक्ति का केन्द्र ब्रज तो बना ही था, रामानन्द द्वारा प्रचारित रामभक्ति भी निर्गुण और सगुण रूपों में लोकप्रियता प्राप्त कर रही थी। अकारण नहीं कि राजनैतिक पराधीनता एवं सामाजिक-धार्मिक असुरक्षितता से मुक्ति हेतु अनाथ तुलसी ने राम को अपना नाथ स्वीकार कर लिया। इधर कामरूप की सामाजिक-धार्मिक स्थिति के अनुरूप शंकरदेव को श्रीधरी व्याख्या अनुकूल प्रतीत हुई होगी, तभी उन्होंने उसे अपने भक्तिमार्ग में अधिक महत्त्व दिया। शंकरदेव और तुलसीदास दोनो ने व्यक्तिगत मोक्ष के साथ ही अपने-अपने चतुर्दिक फैले जनसमाज की मुक्ति के लिए नवीन भक्ति-पथ प्रस्तुत किये। इस प्रकार विविधता में एकता, विच्छिन्नता मे एकसूत्रता के संधान की दिशा में दोनो की रचनाओ में यदि समान रूप में किंचित् वैचारिक प्रतिपादन प्राप्त होते हैं तो इसके लिए उनकी प्राय एक-सी

परिस्थितियो को ही कम उत्तरदायी नहीं माना जाएगा

शंकरदेव और तुलसीदास युगीन साहित्यिक-सांस्कृतिक पीठिकाओं के रेखांकन से स्पष्ट होता है कि दोनों की विपुल रचनाराजि जहाँ उनके कवि प्रवण भक्त-हृदय के परिणाम हैं, वहीं पूर्ववर्ती साहित्यिक परंपराओं की उज्ज्वलतम सुदृढ़ कड़ी भी। उनमें जो विस्तार, वैविध्य और गहराई मिलती है, लोक-मत और साधु-मत का योग्य समन्वयन मिलता है, विविध देवी-देवियों की उपासनाओं, पूजाचारों, विधि-निषेधों इत्यादि में से अनावश्यक का निराश और आवश्यक का समन्वयन एव उन्हीं में से एक देव- विष्णु-कृष्ण या विष्णु-राम की श्रेष्ठता का प्रतिपादन मिलता है, वे तत्कालीन सांस्कृतिक वैविध्य में ऐक्य को खोजने और उसे ही आगे बढाने के परिणाम हैं। अतः, यह कहा जाएगा कि शंकरदेव और तुलसीदास दोनो ने वैयक्तिक जीवन के संघातों, साहित्यिक परंपराओं और सांस्कृतिक पीठिकाओं से न केवल काव्य-विषय और काव्य-रूप बल्कि विशिष्ट विचार भी प्राप्त किये जिन्हे अपने चतुर्दिक परिवेश की आवश्यकता के अनुरूप ढाल कर अपनी-अपनी रचनाओ मे प्रयुक्त किया। परिणामत: लौकिक समृद्धि के लिए तत्कालीन जनता को न केवल रामराज्य के उदात्त विचार बल्कि पारलौकिक सुख (मोक्ष) के लिए सहज भक्ति मार्ग के रूप में 'राजडगर' भी मिला।

संदर्भ :-

1. लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा : महापुरुष श्रीशंकरदेव आरु श्री माधवदेव
   डिम्बेश्वर नेओग . वैष्णव धर्मर आतिगुरि, युगनायक शंकरदेव
   बिरिंचि कुमार बरुवा : शंकरदेव-वैष्णव सेंट ऑफ असम
   हरमोहन दास : शंकरदेव- ए स्टडि
   बापचन्द्र महंत : महापुरुष शंकरदेव
   महेश्वर नेओग : शंकरदेव एण्ड हिज टाइम्स, श्रीश्री शंकरदेव
   कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' . शंकरदेव : साहित्यकार और विचारक
2. शंकरदेव एण्ड हिज टाइम्स
3. शंकरदेव : साहित्यकार और विचारक
4. वही, पृ 79
5. जनक अरविन्द लिखित 'असम की गोद में' की भूमिका
6. सर एडवर्ड गेट- ए हिस्ट्री ऑफ असम, पृ. 258
   डॉ प्रतापचन्द्र चौधरी 'ए हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन ऑफ असम, पृ. 313
7. कथा गुरु चरित. पृ. 192. 286: गेट-ए हिस्ट्री ऑफ असम. पृ. 258
   डॉ बिरिंचि कुमार बरुवा एक हिस्ट्री आफ असम पृ 128

डॉ निर्मल कुमार बोस, असम इन द आहोम एज, पृ 202-4
8. कीर्तन 2033-34
9. गेट-पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ 265
10. वही, पृ 259
11. कथा गुरु चरित, पृ. 28-29
12. रामचरण ठाकुर- गुरुचरित, पृ. 363
13. हरिनारायण दत्तबरुवा (सं)- प्राचीन कामरूपीय कायस्थ समाजर इतिवृत्त, पृ. 43
14. बोस- असम इन द ओहोम एज, पृ. 252-54
15. दैत्यारि ठाकुर- श्रीशंकरदेव आरु श्री माधवदेवर चरित, पृ. 70-71; कथागुरु चरित, पृ 38
16. भाग 12/13-46
17 गुणाभिराम बरुवा- आसाम बुरजी, पृ 32-33
18. डॉ वाणीकान्त काकति- पुरणि कामरूपर धर्मर धारा, पृ 15
19. सूर्यखड़ि दैवज्ञ- दरंग राजवंशावली, पृ 53-57
20. कथागुरु चरित, पृ. 16; दैत्यारि-पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ. 6-7; रामचरण ठाकुर-पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ 87-88
21. डॉ. काकति, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ 17
22. डॉ. महेश्वर नेओग- पुरणि असमिया समाज आरु संस्कृति, पृ. 13
23. डॉ. काकति- द मदर गॉडेस ऑफ कामाख्या, पृ. 57
24. दरंग राजवंशावली, पृ 111-112, गेट-पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ 58
25. दैत्यारि ठाकुर- पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ 161
26. कथागुरु चरित, पृ 37, दैत्यारि- पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ 3; भूषण द्विज महापुरुष शंकरदेव, पृ. 200,348; डिम्बेश्वर नेओग- युगनायक शंकरदेव, पृ. 284
27. कथागुरु चरित, पृ. 27, रामचरण ठाकुर- गुरुचरित, पृ. 297
28. भूपेन्द्र रायचौधरी- असमिया लोकसाहित्य की भूमिका, पृ. 22,109-10
29. डॉ. महेश्वर नेओग- पुरणि असमीया समाज आरु साहित्य, पृ 69
30. डॉ. डिम्बेश्वर शर्मा (सं)- कामरूप शासनावली, पृ. 2, 96
31. कालिका पुराण- 78/75-81, 79/65-68, 79/75-75, 80/140, 79/183-184, 62/68-69, 79/29-31, 11/12, 62/67
32. डॉ. बिरिंचि कुमार बरुआ- ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ असम, पृ. 72
33. डॉ. काकति- द मदर गॉडेस ऑफ कामाख्या पृ. 72
34. डॉ. नेओग- शंकरदेव एण्ड हिज टाइम्स, पृ. 86; पुरणि असमीया समाज आरु संस्कृति, पृ 31-35
35 डॉ प्रतापचन्द चौधरी पूर्वोक्त ग्रंथ पृ 414 416

36. डॉ नेओग-पुरणि असमीया समाज आरु संस्कृति, पृ. 37
37 कथागुरु चरित, पृ 205
38. वही, पृ 57, 205
39 राजमोहन नाथ- द बेकग्राउण्ड ऑफ असमीज कल्चर, पृ. 46-47
40. भूपेन्द्र रायचौधरी- पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ. 28, 59-68
41. शंकरदेव- अनादिपातन; द्रष्टव्य- कथागुरु चरित, पृ. 29; दैत्यारि, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ 11-13
42. गुणाभिराम बरुवा- पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ 54
43. डॉ नेओग, शकरदेव एण्ड हिज टाइम्स, पृ 46
44. कथागुरु चरित, पृ. 200
45. डॉ काकति- द मदर गॉडेस ऑफ कामाख्या, पृ. 80
46. पूर्व कवि अप्रमादी, माधव कन्दलि आदि, तेहे बिरचिला राम कथा- राम. (उ.), पृ 323
47. डॉ सुनीति कुमार चटर्जी- किरात ज्ञान कृति, पृ. 23
48. कीर्तन, पृ. 330
49 कीर्तन, (उरेषा वर्णन), छं 2209; भाग 10/888
50. डॉ मागध, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ. 102
51. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल . गोस्वामी तुलसीदास
    शिवपूजन सहाय : गोस्वामी तुलसीदास
    रामदत्त भारद्वाज : गोस्वामी तुलसीदास
    राजाराम रस्तोगी . तुलसीदास-जीवनी और विचारधारा
    उदयभानु सिंह . तुलसी काव्य मीमांसा
52. वि. प. 135/1
53. जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि,
    भयो परिताप पाप जननी जनक को।- कविता 7/73
54. जननी जनक तज्यो जनमि, करम बिनु विधिहु सृज्यो अवडेरे-वि.प.227
    तनु-जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ।- वि.प 275
    मातु पिता जग जाय तज्यो विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई,
    कविता 7/57
55. राम को गुलाम नाम रामबोला राखो राम।- वि. प. 76
56. वि.प 136/6
57. द्वार द्वार दीनता कही काढि रद, परि पाहूँ। वि.प.275
    घर घर माँगे टूक, पुनि भूपति पूजे पॉय। दोहा 109
    बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
    जानत हो चारि फल चारि ही चनक को   कविता 7/73
58 मानस /5

59 बालपने सूधे मन राम सनमुख भये। ह बा 40
60 वि. प. 155/2
61 कविता 7/13; ब. रा. 7/59
62 जौबन जुवतिन लियो जीति।- वि प २३४
जोवन-जर जुबती-कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरि मदन बाय वि.प 83
द्रष्टव्य- वि.प. 136/7; ह. बा. 40
63 वि प 173/5
64 मानस 1/34/3
65 राम नाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप,
तुलसी से जग मनियत महामुनी सो।- कविता 7.72
द्रष्टव्य- ह. बा. 40; दोहा, 109
66 कविता 7/167; ह बा. 38
67 वही 7/106-108
68 अप्रमाणिक और अर्द्ध-प्रामाणिक रचनाओं की तालिका के लिए द्रष्टव्य-
डॉ. उदयभानु सिंह कृत 'तुलसी-काव्य-मीमांसा, पृ. 68-69
69 डॉ उदयभानु सिंह, तुलसी-काव्य-मीमांसा, पृ. 400
70 मानस 1/36/1
71 वही 7/128/2
72 तुलसी-काव्य मीमांसा, पृ 470
73 डॉ. ईश्वरी प्रसाद, हिस्ट्री ऑफ मेडिवियल इंडिया, पृ. 470
74 स्मिथ, अकबर द ग्रेट, पृ. 239
75 सर यदुनाथ सरकार, मुगल एडमिनट्रेशन, पंचम परिच्छेद
76 डॉ ईश्वरी प्रसाद, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ 564, 871
77 वही, पृ. 869-70
78 झूमत द्वार अनेक मतंग जजीर जरे मदअबु चुचाते।
तीखे तुरग मनोगति चंचल, पौन के गौनहुं तें बढ़ि जाते।।
भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति, बाहर भूप खरे न समाते।
ऐसे भए तौ महा तुलसी जुपै जानकीनाथ के रंग न राते।। कविता7/94
79 कविता, 7/97
80 वही
81 कान्सटेबल एण्ड स्मिथ, वरनियर्स ट्रेवेल्स इन द मुगल इण्डिया, पृ.305
82 पा.म. छ 144; मानस, 1/103/3
83 डॉ. उदयभानु सिंह, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ. 224
84 कविता 7/96
85 मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं।।
मानस 7/98/4

86. सर यदुनाथ सरकार, पूर्वोक्त ग्रथ, पृ. 11
87. श्वेताश्वेतरोपनिषद, 6/21
88. शांकरभाष्य-'अति पूजायाम्। इति स्मरणादत्यंत पूज्यतमाश्रमिभ्य. साधन चतुष्टयसंपत्तिमहिमा स्वेषु देहादिष्यपि जीवनभोगादिष्वनास्थावदभ्य.। अतएव वैराग्यपुष्कलवदुभ्य: ।'

स्मृति- 'यदा मनासि वैराग्य जयते सर्ववस्नुषु।
तदैव संन्यासेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत।।

शाकरभाष्य- 'परमहंससंन्यासिनस्त एवात्याश्रमिण: ।'

89. नागरी प्रचारिणी सभा- तुलसी ग्रंथावली (तृ.ख) पृ 433
90. दोहा 550
91. तामस धर्म करहिं नर जप तप व्रत मख दान।।- मानस, 7/101 (ख)
92. तुलसी ग्रंथावली (नागरी प्रचारिणी सभा), पृ. 433
93. वही, 434
94. दोहा, 65, 326, 383, 495
95. तुलसी और उनका युग, पृ 15-16
96. वृन्दावन दास-चैतन्य भागवत (आदिखण्ड), पृ 15
97. कुरानशरीफ- सूरा 22, आयत 66
98. मानस, 7/97 (ख)
99. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 15-16
100. वि. प 76, 135, 136, 153, 173, 183, 234, 248, 275, इत्यादि
101. डॉ. मागध, रामायणी कथा और रामचरितमानस, किशलय, मार्च, 1983
102. रामदत्त भारद्वाज, सूर साहित्य का तुलसी पर प्रभाव, सूर की साहित्य साधना, स भगवतस्वरूप मिश्र, पृ 310-322
103. मानस, 2/258
104. वही, 1/38/6
105. डॉ मागध, हिन्दी साहित्य : युग और युगधारा,, पृ 160
    तुलनीय : It is the Bible of Hundued millions people. ग्रियर्सन
106. Dr. S. K. Chatterjee, the Ramayana, पृ 35
107. डॉ वासुदेव सिंह, तुलसी की लोकतात्त्विक दृष्टि (तुलसी ग्रंथावली), पृ 446

द्वितीय अध्याय

दार्शनिक विचारधारा

शकरदेव और तुलसीदास दोनो भक्त कवि है, शुद्ध अर्थो में दार्शनिक नही। इसलिए उनकी कविताओं में यद्यपि भक्ति के उद्गार ही मुख्य हैं तथापि उनके काव्य दार्शनिक सन्दर्भों से अछूते नहीं हैं। प्रसंगवश अनेक स्थलों पर उन्होंने ब्रह्म जगत्, संसार, जीव, मोक्ष इत्यादि के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

दार्शनिक दृष्टि से शंकरदेव जहाँ जगद्गुरु शंकराचार्य के अद्वैत से प्रेरित-प्रभावित ओर उनके निकट हैं, वहीं तुलसीदास रामानन्द की शिष्य-परम्परा में स्वीकृत होने के कारण विशिष्टताद्वैत से। इसके बावजूद न तो शंकरदेव ने मात्र शंकराचार्य का और न तुलसी ने विशिष्टाद्वैत का अन्धानुकरण किया है। दोनों की निजता इसमे है कि उन्होने अपना स्वतंत्र दार्शनिक व्यक्तित्व बनाये रखा है।

शंकरदेव के आराध्य कृष्ण हैं और तुलसी के राम। किन्तु, शंकरदेव ने राम को भी काव्य का वर्ण्य स्वीकार किया है एवं तुलसी ने कृष्ण को। स्पष्ट है कि दोनो ने कृष्ण और राम मे अभेद भाव रखा है तथा उनमें ब्रह्मत्व का आरोप किया है।

शंकरदेव एवं तुलसी की दार्शनिक विचारधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन क्रम में ब्रह्म, जीव, जगत्, संसार, माया, मोक्ष इत्यादि विषयक मुख्यत उनकी उक्तियों पर आवश्यक विचार अग्रांकित है।

ब्रह्म

क) ब्रह्म का स्वरूप : शकरदेव और तुलसी ने क्रमश. श्रीकृष्ण एवं राम को इष्टदेव स्वीकार किया है, परन्तु ब्रह्म-स्वरूप का निर्णय करते समय दोनो ने सगुण-रूप से परे अनन्त चैतन्य शक्ति को ब्रह्म घोषित किया है। ब्रह्म के स्वरूप-निर्णय में दोनों ने वेदान्त, भागवत् इत्यादि का सहारा लिया है।

शंकरदेव के ब्रह्म नारायण[1] और निरंजन[2] हैं। वे सनातन और सर्वावतार कारण है। तुलसी ने ब्रह्म को सर्वव्यापक, माया रहित, अजन्मा, अगोचर, इच्छारहित और भेदरहित कहा है की उक्ति है

परम पुरुष पुरातन पापी पावन ईश्वर देव।
ब्रह्मा रुद्र आदि दिकपाल याकु करत नित्य सेव।।[4]

और तुलसी की धारणा है .

बलम प्रमेयमनादिमजमव्यक्तमेकमगोचरं
गोविंद गोचर द्वंद्वहर बिग्यानघन धरनीधर।।[5]

शंकरदेव-तुलसी दोनों ने ब्रह्म को माया का प्रवर्तक[6] माना है। ब्रह्म के इशारे पर ही माया-नटिनी नाचती है। ब्रह्म जगत् की आत्मा है[7]। वह अचिन्त्य महिमायुक्त पुरुष-पुराण[8] होने पर भी प्राणियों का रक्षक है[9]। वह सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय का अधिकारी और दोष-गुण से अछूता है[10]।

ख) ब्रह्म का विराट रूप : तुलसी और शंकरदेव दोनों के अनुसार ब्रह्म विराट एवं सर्व-व्यापक है, ऐसा कि - 'देशकाल दिसि विदिसिहु माहीं। कहहु सों कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।'[11] ब्रह्म सर्वभूत में व्याप्त है[12]।

शंकरदेव ने ब्रह्म के गर्भ में सारे जगत् का अवस्थान बतलाया है[13]। उसके गर्भ में सात द्वीप, सात सागर, गिरि, वन, नदी, ग्राम, नगर, वायु, दिशा, आकाश, समस्त जीव, सत्व, रज, तम आदि इन्द्रिय बल इत्यादि सभी हैं। दोनो के द्वारा अंकित ब्रह्म के विराट रूप की झलक निम्नांकित उक्ति में हैं, यथा-

शंकरदेव :

स्वर्गे भैल शिर जार विदिशे श्रवण।
सूर्ये भैल चक्षु जार मुख हुताशन।।
मेघे जार भैल कुक्षि सपत सागर।
भैल जार बाहु दिकपाल पुरन्दर।।
लोभ भैल वृक्षचय वायु पंच प्राण।
पर्वत समस्ते अस्थि जाहार निर्माण।।
रात्रि दिने निमेष प्रदेश जलद्वार।
वृष्टि जले भैल वीर्य विराट तोमार।।[14]

तुलसीदास :

पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग अँग विश्रामा।।
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच धन माला।।
जसु घ्रान अस्विनीकुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा।।
श्रवन दिसा दस वेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी।।
अधर लोभ जम दसन कराला माया हास बाहु दिगपाला

आनन अनल अबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा।।
रोम राजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा।।
उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु का बहु कलपना।।
अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान।।
अस बिचारि सुनु प्रानपति प्रभु सन बयरु बिहाइ।
प्रीति करहु रघुबीर पद मम अहिवात न जाइ।।[15]

ग) **विरुद्ध धर्माश्रयत्व** : श्रुतियों एवं गीता इत्यादि में ब्रह्म के परस्पर विरोधी गुणों की चर्चा की गयी है। ब्रह्म के परस्पर विरोधी गुण अथवा विरुद्धा-धर्माश्रयत्व की स्वीकृति दोनो की रचनाओं में प्राप्त होती है। यथा-

शंकरदेव :

1 नित्य निरंजन शुद्ध आनन्द स्वरूप।
भकतर जेन इच्छा तेने धरा रूप।।[16]

2. जो रहे गरुड़ आसने।
सो हरि गोपिनी बाहने।।[17]

3 जाहेरि चरण सुरासुर सेवत।
सो हरि गोपीक पिउ।।[18]

तुलसीदास :

1 सुनत लखत श्रुति नयन बिनु, रसना बिनु रस लेत।
बास नासिका बिनु लहै, परसै बिना निकेत।।[19]

2. सर्वरक्षक सर्वभक्षकाध्यक्ष कूटस्थ गूढ़ार्च भक्तानुकूल।[20]

3. बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना, कर बिनु करम करइ बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा, ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा।।[21]

ब्रह्म के विरोधी गुणो के प्रतिपादन अथवा ब्रह्म की लीलाओं का गायन करते समय दोनों कवि पाठकों को ऐसा सचेत करने से नहीं चूकते कि-

1. आहे भाइसब देखो देखो, वही नन्द-नन्दन मानुष नोहे।[22]

2 सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।[23]

(घ) **अद्वैत निर्गुण ब्रह्म** · शंकरदेव एव तुलसी दोनो को न केवल ब्रह्म के विराट बल्कि उनके अद्वैत निर्गुण रूप भी मान्य है शंकरदेव के ब्रह्म तो मात्र अद्वैत निर्गुण ही हैं जिनका उन्होने सगुणवत् गायनभर किया है तुलसी हैं

सगुणोपासक, किन्तु ब्रह्म का निर्गुण रूप उन्हें भी मान्य है।

शकरदेव ने ब्रह्म को निर्गुण[24] ब्रह्मरूपी सनातन[25] अनादि ईश्वर[26] ब्रह्म[27] निरजन[28] ज्ञानमय आनन्द[29] सत्य सनातन[30] निराकार निरंजन[31] सदानन्द निरंजन[32] पुराण पुरुष[33] कारणों का कारण[34] ब्रह्म निरंकुश[35] पुरुष पुरुषोत्तम[36] सनातन ब्रह्म[37] इत्यादि विशेषणों से अभिहित किया है। उनकी स्पष्ट घोषणा है-

एकेश्वरे आछे आमि आदि निरंजन।

....

आमि महा चैतन्य पुरुष निरजन।।[38]

माधवदेव के शब्दों में कहना पडेगा कि शंकरदेव निर्गुण कृष्ण के गुणों के प्रचारक है।[39]

तुलसीदास ने ब्रह्म को निर्गुण[40] निर्लेप[41] आदि निरूपित करते हुए लिखा है-

सर्वकृत सर्वभूत, सर्वजित, सर्वहित, सत्यसंकल्प, कल्पान्तकारी।

नित्य, निर्मोह, निर्गुनि, निरंजन, निजानंद, निर्वाण, निर्वाणदाता।।

.. . .

अनघ, अद्वैत, अनवद्य, अव्यक्त, अज, अमित, अविकार, आनंदसिंधो।

अचल, अनिकेत, अविरल, अनामय, अनारंभ, अंबोदनादहन्- बधो।।[42]

और शंकरदेव की भी इससे मिलती-जुलती उक्ति है :

तुमिसि निर्गुण हरि आनन्द स्वरूप।

नेदेखोहों मइ आतपरे आन रूप।।[43]

यद्यपि ब्रह्म से ही सब की उत्पत्ति हुई है तथापि उनके निर्गुण रूप को जानने की शक्ति किसी में नहीं है।[44] अस्तु, स्पष्ट है कि निर्गुण ब्रह्म विषयक शंकरदेव और तुलसी की मान्यताएँ प्राय. भिन्न नहीं हैं। इतना अवश्य है कि शंकरदेव को जहाँ ब्रह्म के निर्गुण रूपभर मान्य है, वहाँ तुलसी को निर्गुण के साथ सगुण भी ·

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा, अकथ अगाध अनादि अनूपा।[45]

(ङ) **आनन्दस्वरूप सगुण ब्रह्म** : शंकरदेव सिद्धांतत· निर्गुणोपासक हैं, किन्तु आराध्यदेव कृष्ण की लीलाओं का गायन करते समय वे सगुणोपासक-से ही प्रतीत होते है। उनके विपरीत तुलसी सगुणोपासक हैं, किन्तु निर्गुण-सगुण में उन्हें भेद मान्य नहीं है। मात्र व्यावहारिक सुविधा के लिए उन्होंने सगुणोपासना स्वीकार की है। उन्होने निर्गुण की अपेक्षा सगुण ब्रह्म के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है-

विविध भाँति मोहि मन समुझावा। निर्गुन मत मम हृदयँ न आवा।।

पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा सगुन कहहु मुनीसा[46]

सगुणोपासना एवं सगुण ब्रह्म के महत्त्व का प्रतिपादन तुलसी ने अन्यत्र[47] भी किया है। निर्गुणोपासक शंकरदेव को ब्रह्म का सगुण रूप भी मान्य है। उपासना की सुविधा की दृष्टि से ही वे भी सगुण ब्रह्म का महत्त्व स्वीकार करते हैं। उन्हीं के शब्दों में-

निश्चल निर्मल सूक्ष्म रूप जिटो स्वामी।
देवे नजानन्त तांक केने जानो आमि।।
अपर तोम्हार रुप जात भुज चारि।
पीतवस्त्रे शोभै शंख चक्र गदाधारी।।
पिंधि आछा रत्नर मुकुतार हाड़।
हियात श्रीवत्स गले बनमाला जार।।
सेहिसे मूर्तिके आराधन्त देवगणे।
ताकेसे भक्तजने चिन्ते सर्वक्षणे।।[48]

शंकरदेव को ब्रह्म के लीलामय रूप प्रिय हैं। वे उसकी लीला पर मुग्ध हो उठते हैं-

देखा केन बिपरीत लीला माधवर।
जिटो ब्रह्म नुहिकंत ज्ञानर गोचर।।
जिटो अन्तर्यामी यज्ञभोक्ता भगवन्त।
हेन हरि गोप शिशु लगत भुजन्त।[49]

शंकरदेव के सगुण ब्रह्म के लीला-गान से ब्रह्म की व्यावहारिक सत्ता को स्पष्ट किया है। डॉ मागध[50] ने शंकरदेव के साधना-मार्ग को तीन सोपानों- द्वैत-लीला भाव- अद्वैत से स्पष्ट किया है।

दोनो ने निर्गुण और सगुण ब्रह्म में अभेद ही माना है। तुलसी के अनुसार-
सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।[51]

शंकरदेव ने भी नाटकों में ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों का निरूपण एक साथ किया है। यथा- "आहे सामाजिक लोक ! जे जगतक परम गुरु, जाहेरि स्रजना सकल ससार, ब्रह्मा महेश बन्दित पादपद्म, परम पुरुष पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ओहि रुक्मिणी सत्यभामा सहित सभामध्ये, प्रवेशकयो नरकासुर वध पारिजातहरण लीला यात्रा कौतुके करब।'[52]

अस्तु, स्पष्ट है कि सगुण-ब्रह्म विषयक दोनों की धारणाएँ बहुत भिन्न नहीं हैं

(च) अवतार धारण : गीता की उक्ति "संभवामि युगे-युगे' के अनुरूप ही शकरदेव एवं तुलसीदास दोनों ने ब्रह्म के अवतार-धारण का कारण संत की रक्षा[53] दुर्जन का विनाश,[54] धर्म की स्थापना,[55] जगत का कल्याण[56] इत्यादि स्वीकार किया है। ब्रह्म अवतार धारण कर-नरतनुधारी बनकर भी मायिक जगत से सदा अलिप्त ही रहता है। इस दृष्टि से दोनों ने अपने-अपने आराध्य देवों- कृष्ण और राम के अवतरण एव लीला का अंकन किया है-

शंकरदेव : भकत कामद हरि परम आनन्द करि
आपुनो भुंजिला भगवन्त।
एहिमते देवहरि लीला नरतनु धरि
मनुष्यर देखाया चेष्टाक।[57]

तुलसीदास : (क) अति उदार अवतार मनुज बपु धरे ब्रह्म अज अबिनासी।[58]
(ख) ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौशल्या के गोद।[59]

ब्रह्म के अवतार यानी कृष्ण, राम इत्यादि नरतनुधारी ब्रह्म को समझना अपेक्षया दुष्कर होता है।

शंकरदेव और तुलसीदास ने ब्रह्म के विविध अवतारों[60] के उल्लेख किये है। सभी अवतार लोकहिताय ही हुए हैं। यहीं संकेत कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जहाँ शंकरदेव ने भागवत के अनुरूप चौबीस अवतारो के उल्लेख किये हैं,[61] वहाँ तुलसीदास ने बारह अवतारों- दस मुख्य अवतारो एवं कपिल तथा नारायण का ही उल्लेख किया है[62]। ध्यातव्य है कि शंकरदेव एवं तुलसी दोनों ने ब्रह्म के अवतार धारण विषयक चतुर्व्यूह सिद्धान्त का यथावत् वर्णन नहीं किया है।

(छ) विष्णु रूप ब्रह्म : विष्णु कृष्ण एवं विष्णु राम : आलोच्य कवियो मे शंकरदेव के आराध्य देव श्रीकृष्ण एव तुलसीदास के राम दोनों परम ब्रह्म अथवा नारायण अथवा विष्णु के अवतार तो घोषित किये गये हैं, पर ये दोनो लीला पुरुष भी माने गये है। पुन: अनेक स्थलों पर दोनों को विष्णु रूप में भी अंकित किया गया है। यथा-

शंकरदेव : 1 नम. कृष्ण विष्णो परानन्तशक्ते।[63]
2. आति अप्रबन्धे गरुड़र स्कन्धे थैला देव चक्रपाणि।[64]

तुलसीदास : 1. भूप रूप तब राम दुरावा। हृदयँ चतुर्भुज रूप देखावा।[65]
2 उरग-नायक-सयन तरून-पंकज-नयन छीरसागर-अयन सर्बबासी।[66]

वस्तुत शकरदेव के कृष्ण और तुलसी के राम हैं विष्णु ही किन्तु दोनो ने

अपने-अपने आराध्यदेवों के वर्णन विष्णु से अलग स्वय परंब्रह्म के रूप में किये है। इस प्रकार वे विष्णु-कृष्ण एव विष्णु-राम के रूप मे अंकित हुए हैं।

शंकरदेव ने अपने आराध्यदेव कृष्ण को कारणों का कारण,[67] ईश्वरों का ईश्वर,[68] अत: त्रिदेवों मे सर्वोच्च[69] स्वीकार किया है। वे मन्मथ-कोटि-मंथन-मन[70] एव कोटि मदन-मन-मोहन[71] ही नहीं, त्रिभुवन मोहन भी है। ब्रह्मा और शंकर उनकी महिमा का अत कभी नहीं पाते।[72] तुलसीदास ने भी अपने आराध्य देव राम को ईश्वरो के ईश्वर, देवताओं के देवता, प्राणों के प्राण, काल के भी काल,[73] बिधि हरि सभु नचावनिहारे,[74] अपने अंश मात्र से अनेक शंभु, अनेक बिरिंचि उत्पन्न करनेवाले,[75] बिधि हरि हर बंदित पद रेनू,[76] जाके बल बिरचि हरि ईसा[77] इत्यादि घोषित किया है। वस्तुत. शंकरदेव और तुलसी दोनों के आराध्यदेव न केवल विष्णु के अवतार है अपितु उनसे भी भिन्न और अधिक गुण सम्पन्न हैं। सर्वगुणाकर आराध्य देवों से उनकी प्रार्थनाएँ कमश: द्रष्टव्य है-

शंकरदेव : न मागोंहो सुखभोग, न लागे मुकुति।
तोमार चरणे मात्र थाकोक भकति।।[78]

तुलसीदास : कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरतर प्रिय लागहु मोहि राम।।[79]

(ज) **भक्त-वत्सल भगवान्** : ब्रह्म के सगुण रूप-कृष्ण एवं राम की महत्ता का व्यावहारिक प्रकटीकरण उनकी भक्तवत्सलता मे ही होता है। वे भक्तों के लिए परम कृपालु है। भक्तों के प्रति कृपालु या वत्सल होने के कारण भी उन्हे अवतार लेना पडता है। शंकरदेव एवं तुलसी दोनों ने अपनी रचनाओं में भगवान् की कृपालुता और वत्सलता के अनेकविध वर्णन निरूपण किये है।

शंकरदेव ने कृष्ण की भक्त वत्सलता के निदर्शन स्वरूप प्रह्लाद,[80] गजेन्द्र,[81] गोपियो[82] इत्यादि के उदाहरण प्रस्तुत किये है। भक्तवत्सल होने के कारण ही कृष्ण वनचारी और व्यभिचारी स्त्रियो के अधीन भी होते हैं-

एके स्त्री बनचारी आरो व्यभिचारी।
ताहारो अधीन भैला ईश्वर मुरारि।।
नचावै अजाति जाति पापी पुण्यवन्त।
भकतिते बश्य किनो प्रभु भगवन्त।।[83]

शंकरदेव ने विभिन्न पदो मे ईश्वर की कृपालुता और अपनी लघुता का वर्णन किया है। ईश्वर की वत्सलता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि उसका नाम स्मरण मात्र ही चाण्डालो तक को पवित्र कर देता है 'चाण्डालो पर्यन्ते

करे सबाको पवित्र।'[84] अर्जुन से श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि व्यक्ति दुराचारी ही क्यो न हो, किन्तु अन्यों को छोड़कर यदि वह मेरा भजन करता है तो वह परम साधु है, मेरे लिये वह प्राण है।[85] उसकी कृपा से गूंगे बोल सकते हैं और पगु पर्वत लाघ सकते हैं।[86] उसके कीर्तन मात्र से ब्राह्मण-गुरु-मातृ-पितृहन्ता और म्लेच्छ चाण्डाल आदि पाप कर्मों से मुक्त तो होते ही हैं,[87] मोक्ष के भी अधिकारी हो जाते है।[88] विष्णु-दूतों के अनुसार ब्रह्म-हत्या, पितृ-हत्या, सुरापान, अगम्य-गमन, निर्दोष पशु पक्षियों की हत्या, स्वर्ण लूट, मित्र-द्रोह जैसे पाप करनेवालों के द्वारा नाम-कीर्तन किये जाने पर भी भगवान उन्हें क्षमा कर देते हैं। और तो क्या, स्वयं भगवान् कृष्ण की उक्ति हैं- 1. भकतर अर्थे मइ आपुन आकुल।[89]

2. भकतर पूरो मनोरथ, दिओं काम मोक्ष धर्म अर्थ।[90]

तुलसी के राम तो इतने भक्तवत्सल और कृपालु हैं कि मात्र भक्तों के हित के लिए अवतार लेते हैं।[91] राम की कृपाशीलता और भक्त-वत्सलता का निरूपण तुलसी ने अनेकत्र किया है। विनय-पत्रिका के विभिन्न पदों में अजामिल, गीध, गणिका, सदन जैसे भक्तों पर कृपा करने का वर्णन अथवा केवट जैसे चाण्डाल से मित्रता और बन्धुत्व स्थापना इत्यादि राम की वत्सलता के ही उदाहरण हैं। इसीलिए तुलसी ने लोगों से ऊँची आवाज में यह पूछा भी है-

1. राम सरिस को दीन हितकारी। कीन्हे मुकुत निसाचर झारी।।[92]

2. अस कृपाल को कहहु भवानी।[93]

तुलसी के राम की वत्सलता का इससे अच्छा चित्र और क्या हो सकता है-

प्रभु तरुतर, कपि डार पर, ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम सो साहिब सीलनिधान।।[94]

तुलसी ने राम से कई स्थलों पर एतद्विषयक घोषणा भी करायी है-

1. पन हमार सेवक हितकारी।[95]

2. सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मय प्रानप्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब।[96]

राम इतने कृपालु हैं कि 'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।'[97]

उपरि विवेचन से स्पष्ट है कि शकरदेव एवं तुलसी के भगवान्- कृष्ण और राम समान रूप से भक्तवत्सल हैं। दोनों ने भगवान् की भक्तवत्सलता का उन्मुक्त तथा निश्छल भाव से कथन किया है तथा आवश्यकतानुसार निरूपण भी किया है। अत: दोनों के वर्णन आरोपित और बोधपरक प्रतीत होते हैं।

जीव

अद्वैतवादी दर्शन अन्तत ब्रह्म और जीव के भेद को नहीं मानता है। गीता के 'ममैवाशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:' के समान ही शंकरदेव और तुलसी जीव का आविर्भाव ब्रह्म के चिदश से स्वीकार करते हैं। यथा-

शंकरदेव : 1. ब्रह्म अंश जीवन तथापि आवरय।[98]

2. तोम्हारेसे अंश आमि जत जीव जाक।[99]

3. हामु जत जीव शिव तेरि अंशा।[100]

तुलसीदास : 1. ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।[101]

2. जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा।[102]

3. जिय जब तें हरि तें बिलगान्य।

तन ते देह गेह निज जान्यो।।[103]

शंकरदेव के अनुसार जीवन शाश्वत और अमर है,[104] जीव और ब्रह्म मे अंश-अंशी भाव को शंकरदेव ने कहीं अवच्छेदवाद और प्रतिविम्बवाद के रूप मे अग्नि-स्फुलिग, तंतु-पट, मिट्टी-घट, स्वर्ण-कुण्डल इत्यादि के उदाहरणों से स्पष्ट किया है।[105] 'अनादि-पातन' में ब्रह्म-जीव के सम्बन्ध को अग्नि और तप्त लौह के उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है।

तुलसी ने जीव पर शंकरदेव की अपेक्षा किंचित् अधिक स्पष्टता से विचार किया है। उन्होंने जीव को ईश्वर अंश मानने के बावजूद बहुधा जड़ घोषित किया है। उसके धर्म का कथन करते हुए कहा है-

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।[106]

जीव का धर्म है हर्ष-विषाद इत्यादि- 'हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना।'[107]

जीव अमर है, मृत्यु देह का धर्म है।[108] शरीरस्थ जीव ही विभिन्न प्रकार की सांसारिक क्रीड़ाओं- सुख-दु:ख का भोक्ता होता है। शरीरस्थ जीव के कष्टों का कारण दोनों ने अविद्या और अज्ञान को स्वीकार किया है।[109] देहधारी जीव माया के वशीभूत हो मायाधीश को भूल जाता है, इसीलिए उसे जन्म-मृत्यु के चक्कर मे भटकना पड़ता है। माया आवृत्त जीव और ब्रह्म में शंकरदेव और तुलसीदास ने जो अंतर स्पष्ट किये है वे प्राय: समान ढंग के हैं।[110] दोनों ने जीव को कर्माधीन स्वीकार किया है,[111] कर्म के अनुरूप ही जीव की गति होती है।[112]

शंकरदेव और तुलसीदास दोनो को जीव के विभिन्न स्तर- अवस्थाएँ और प्रकार मान्य हैं देहाभिमान की दृष्टि से जीव की चार अवस्थाए जाग्रत स्वप्न

सुषुप्ति और तुरीय दोनों को मान्य हैं। 'अनादि पातन' मे शंकरदेव ने और 'दोहावली' में तुलसी ने प्रथम तीन का स्पष्ट कथन किया है।[113] चौथी अवस्था (तुरीय) का तुलसी ने स्पष्ट कथन किया है,[114] किन्तु शंकरदेव ने नहीं। यों उनमे इसका निरूपण अभिमानयुक्त जीवों के वर्णन में मिलता है।

जीव के त्रिविध स्तर-शंकरदेव (स्थूल, सूक्ष्म और कृष्णमय) अथवा जीव के त्रिविध शरीर-तुलसी (कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और अन्तःकरण) में वर्णित हुए हैं। इसी प्रकार दोनों को नित्य, युक्त और बद्ध-जीव की तीन कोटियाँ भी मान्य हैं।

जीव के निरूपण में ही शंकरदेव ने 'अनादि पातन'[115] और 'भागवत' द्वितीय स्कध में मन, चित्त, अहंकार, अन्तःकरण, बुद्धि इत्यादि पर भी विस्तार से विचार किया है। तुलसी ने भी अन्तःकरण, बुद्धि, अहंकार, चित्त, मन इत्यादि के संबंध मे अनेकत्र कथन किये हैं।[116] शंकरदेव और तुलसी दोनों की जीव विषयक मान्यताएँ अद्वैत दर्शन के अनुकूल है। मायाधीन जीव ईश्वर से बचित होकर अनेक प्रकार के कष्टो को झेलता है। इन कष्टो से मुक्ति के लिए एकमात्र उपाय है अराध्य देव की कृपा प्राप्त करना। इसके लिए मन की स्थिरता, शुद्धि इत्यादि आवश्यक तो है ही, सर्वोपरि आवश्यकता है भक्ति की-

शंकरदेव : बिने भकति गति नाइ।[117]

तुलसीदास : देखी भगति जो छोरइ ताही।[118]

जगत् और संसार

शंकरदेव और तुलसी दोनों की रचनाओं में 'जगत्' और 'संसार' दोनों एक दूसरे के प्रायः पर्याय के रूप में व्यवहृत हुए हैं। मोटे तौर पर शंकराचार्य के जगन्मिथ्या सिद्धान्त के दोनों विश्वासी प्रतीत होते हैं। दोनों की दृष्टि में ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण यह दृश्यमान जगत सत्य-सा प्रतीत होता है। यथा-

शंकरदेव : असत जगतखान तोह्मात उद्भव भैल, सन्त हेन प्रकाशै सदाय।[119]

तुलसीदास : 1. यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।[120]

2.जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू।।

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।।[121]

शंकरदेव के जगत् संबंधी विचारों का अनुशीलन करने के पश्चात् विभिन्न विद्वानों ने भी प्रायः ऐसे ही निष्कर्ष दिए हैं,[122] किन्तु डॉ. श्रीनिवास मूर्ति ने उसे विशिष्टाद्वैत से अनुप्राणित माना है।[123] डॉ. मूर्ति के मत को ध्यान में रखते हुए यह कहना पडेगा कि शकरदेव और तुलसीदास के जगत् सबधी विचार एक दूसरे से

वस्तुत: भिन्न नहीं है।

दार्शनिक दृष्टि से शंकराचार्य के निकट होते हुए भी शकरदेव के जगत् और ससार सम्बन्धी विचारों में किंचित् भिन्नता दिखायी पड़ती है। शंकरदेव की रचनाओं में अनेकत्र जगत् को श्रीकृष्ण का अंश अथवा विष्णुमय; अर्थात् सत्य घोषित किया गया है। यथा-

1. कृष्णरेसे अंश सबे जगत निश्चय।[124]
2. विष्णुमय देखै जिसे समस्ते जगते।[125]
3 समस्ते जगत हरि जानिबा निश्चय करि
   गुचायो बुद्धिर इटो भ्रम।[126]
4. तुमि सत्य ब्रह्म तोम्हात प्रकाशे
   जगत इटो अनंत।[27]

शंकरदेव की इन उक्तियों के समानान्तर ही तुलसीदास की भी इसी भाव की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं, जिनमे उन्होंने जगत को 'सीयराममय' माना है-

1. पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे।[128]
2. 'झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग' संत कहंत जे अंत लहा है।
   ताको सहै सठ संकट कोटिक, काढ़त दंत, करत हहा है।
   जानपनी को गुमान बड़ो, तुलसी के बिचार गँवार महा है।[129]
3. सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।[130]
4. निज प्रभुमय देखहि जगत केहि सन करहिं बिरोध।[131]

जगत् की सत्यता के अतिरिक्त उसकी असत्यता अथवा उसके मिथ्यात्व विषयक कथन भी शंकरदेव और तुलसी दोनों मे समान रूप से प्राप्त होते है। तुलसी ने तो इससे भी आगे बढ़कर घोषणा की है- 'कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै। तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै।।[132]

जहाँ तक संसार की बात है, दोनों ने उसे मिथ्या, नि:सार, नाशवान, मायिक इत्यादि घोषित किया है। यथा-

शंकरदेव : 1. अथिर धन जन जीवन यौवन
   अथिर एहु संसार।[133]
   2. इटो चार संसारत, नाहिं किछु सार तत्त्व :
   महाज्ञानी लोके हेन कय।[134]

तुलसीदास 1 मैं तोहिं अब जान्यो संसार।[135]
   2 नस्वर रूप जगत सब देखहु हृदयँ बिचारि[36]

ब्रह्म से जगत् के सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए शंकरदेव और तुलसी दोनों ने पट-तन्तु, रज्जु-सर्प, दारु करि, मिट्टी-घट, अग्नि-स्फुलिंग इत्यादि के उदाहरण दिये है।[137]

जगत् के आविर्भाव और तिरोभाव के संदर्भ में दोनों को सांख्य दर्शन मान्य है। अन्तर यह है कि शंकरदेव ने जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का जितने ब्यौरेबार और विस्तारपूर्वक वर्णन किया है उतना तुलसीदास ने नहीं। शंकरदेव के अनुसार जगत् का तिरोभाव होता है, नाश नहीं।

तुलसीदास ने साख्य दर्शन को स्वीकार तो किया है पर उसका विस्तृत वर्णन किसी एक स्थान पर नहीं किया है। शंकराचार्य की 'प्रकृति' को ही तुलसी ने 'माया' नाम देकर उसे ही भगवान् के अनुशासन, प्रेरणा और बल से सृष्टि-रचना मे प्रवृत्त होना बताया है।[138] तुलसी ने ब्रह्माण्ड को 'अण्ड कटाह' भी कहा है।[139] इसकी रचना का उल्लेख उन्होंने किंचित् विस्तार से ही किया है। यथा-

उदर माझ सुनु अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया।।
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका।।
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रबि रजनीसा।।
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला।।
सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा।।[140]

सारांशतः शंकरदेव और तुलसीदास दोनों की जगत् सम्बन्धी मान्यताएँ शकराचार्य के मायावाद से प्रेरित-प्रभावित होकर भी उनसे किंचित् भिन्न है। दोनो ने जगत् और संसार दोनो को एक दूसरे के पर्यायवत् प्रयुक्त किया है।

माया

माया के निरूपण में शंकरदेव और तुलसीदास दोनों ने अपने-अपने ढंग से उसके स्वरूप, प्रकार, कार्य इत्यादि का विस्तृत उल्लेख किया है। शंकरदेव के माया सम्बन्धी विचार शंकराचार्य के मत के निकट होकर भी उनसे पर्याप्त भिन्न है।[14] माया विषयक उनके विचार विर्वतनवादी नहीं, परिणामवादी है।[142] तुलसीदास के माया विषयक विचार स्वभावतः विशिष्टाद्वैत मत से प्रेरित है। माया के स्वरूप पर विचार करते हुए शंकरदेव भक्ति-विरोधी सारी वस्तुओ को माया घोषित करते है।[14] साथ ही उन्होंने यह भी कहा है-

अबस्तुक देखावय बस्तुक आवरि।
एहिसे मोहोर माया जाना निष्ठ करि।।[144]

तुलसीदास ने भी माया का स्वरूप बहुत कुछ इसी रूप में निरूपित किया है-

1. जीव चराचर बस कै राखे।।[145]

2. मैं अरु मोर तोर तैं माया।[146]

3. गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।[147]

माया ने ही चराचर जगत् को आवृत कर रखा है। काम, क्रोध, लोभादि माया की प्रबल सेना हैं जिसमें फँसकर जीव को इस गहन संसार में कष्ट भोगना पडता है।[148] माया बडी दुस्तर है, उससे छुटकारा पाना सहज नहीं है। माया के वशवर्ती ही अखिल विश्व, देवासुर इत्यादि भी हैं।[149] माया ईश्वर की दासी अथवा आधीना है, इसी नाते ईश्वर 'माया-पुरुष' या 'मायाधीस' है-

शंकरदेव : तजु माया पुरुष ताहार माया अंश।[150]

तुलसीदास : मायाधीस ग्यान गुन धामू।[151]

माया का स्वरूप बताकर तुलसीदास ने कहा है कि यह अबला स्वभावत. ही निर्बल और जाति (जन्म) से ही जड़ (मूर्ख) होती है।[152] यह भगवान् अथवा उनकी भक्ति से ही केवल डरती है।[153] माया को शकरदेव एवं तुलसी ने 'नटिनी' (नर्तकी)[154] मात्र कहा है जो चचला है और जीव को भटकाती रहती है।[155] 'स्त्री'[156] को दोनों ने सबसे प्रबल माया के रूप में स्वीकार किया है।

शंकरदेव : महा सिद्ध मुनिरो कटाक्षे मोहे चित।[157]

तुलसीदास : मृगलोचनि के नैन सर को अस लाग न जाहि।[158]

माया के दो रूप- विद्या और अविद्या दोनों को मान्य हैं। विद्या-माया ही भगवान् का अनुशासन पा सृष्टि रचना आदि करती है और भक्तों की सहायिका होती है। शंकरदेव ने इसे ही 'सात्विक' भी कहा है।[159] इसी माया के प्रति अनादि पुरुष की उक्ति है-

तोमारे आमारे किछो नाहि भिन्नाभिन्न।
मोतो जातो लीन जाहा एहि मात्र हीन।।[160]

तुलसी की विद्या-माया जगत् की रचना करती है।[161] तुलसी ने उसे प्रभु प्रेरित माना है। राम-प्रिया सीता ही राम की आद्या-शक्ति हैं। माया रूपों की तरह ही तुलसी ने सीता के विद्या और अविद्या दो रूपो का निरूपण किया है। विद्या-माया यानी विद्या सीता ही जगत् की सृष्टि आदि, एवं प्राणियो का कष्टहरण आदि करती है।[162]

शंकरदेव ने अविद्या-माया का विस्तृत वर्णन किया है। तुलसी ने अविद्या-माय के प्रबल परिवार में कामादि (काम क्रोध और लोभ) को सेनापति एवं दंभ, कपट और को प्रबल योद्धा माना है फलत इससे जीवादि के अतिरिक्त शिवर्ज

एव ब्रह्माजी भी डरते है-

व्यापि रहेउ संसार महुं माया कटक प्रचड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड।।[163]

X X X X

सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं।।[164]

तुलसी के अनुसार अविद्या माया के पाश से मुक्ति केवल रामकृपा से ही सम्भव है।

छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि।[165]

और अविद्या-माया से ही मुक्ति के लिए शंकरदेव की प्रार्थना है-

तुवा हरि लागो गोड मोर मायापाश छोड़
शंकर करय काकुति।।[166]

ऊपरि विवेचन से स्पष्ट है कि शंकरदेव एवं तुलसी दोनों को सिद्धान्तत माया न तो शंकराचार्य की माया की तरह मिथ्या रूप मे मान्य है और न ही मध्वाचार्य की तरह सत्य रूप में अथवा निम्बार्क की तरह सत्यासत्य रूप में। दोनो के अनुसार माया ब्रह्म से उत्पन्न एवं उन्हीं से नियंत्रित, सृष्टि-रचना आदि का कारण और शक्ति-स्वरूपा है। उसका अविद्या रूप मानव, देवतादि सबको भ्रमित और विमोहित करने में समर्थ है। संसार के सारे परिवर्तन माया-धर्मी हैं। माया से मुक्ति का एकमात्र उपाय भगवान् की एकनिष्ठ भक्ति है।

मोक्ष और मोक्ष साधन

प्रत्येक प्रकार की व्याधि से मुक्त होकर भवबंन्धन को काटकर जीव का आनन्द प्राप्त कर लेना ही मोक्ष है। यह आनन्द देहत्याग के पश्चात् और देह रहते हुए ही प्राप्त किया जा सकता है। इस आधार पर मोक्ष अथवा मुक्ति-दो प्रकार की मान्य है- विदेह मुक्ति और जीवन मुक्ति। भक्तों को विदेह मुक्ति की अपेक्षा जीवन मुक्ति ही प्रिय रही है।

शंकरदेव और तुलसी ने मोक्ष का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं किया है। शंकरदेव ने मोक्ष को आत्यंतिक लय भी कहा है।[167]

भागवत् निरूपित साजुज्य मुक्ति की ओर कवि शंकरदेव का झुकाव अन्यत्र भी दिखायी पड़ता है।[168] साधक को योग्यता के अनुरूप ही साध्य के स्वरूप और मुक्ति मे शंकरदेव अंतर मानते हैं। उनके अनुसार साध्य स्वरूप तीन प्रकार के होते है- लीन मुक्ति वैकुण्ठ लाभ और सप्रेम भक्ति शुद्ध अद्वैत ज्ञान द्वारा ब्रह्म के

सच्चिदानन्द स्वरूप की उपलब्धि ही लीनमुक्ति है। शंकरदेव के अनुसार तीनों मे यही सर्वोत्तम है। निम्नांकित उद्धरणों में वे लीन-मुक्ति का ही कथन करते है-

1. सबे कर्मबन्धे हैब हीन। अन्तकाले मोते जाइबि लीन।[169]

2. छिंडिल संशय भैल ब्रह्ममय देहार एरिया सग।
भैलत हियात ईश्वर साक्षात लिंग देहा भैल भंग।।[170]

तुलसीदास ने मुक्ति के विभिन्न रूपों का सैद्धान्तिक निरूपण तो नहीं किया है पर उन्हें साजुज्य, सालोक्य और सारूप्य मुक्तियाँ मान्य हैं। उनके राम शबरी,[171] कुभकर्ण[172] और रावण[173] को साजुज्य मुक्ति; बालि,[174] विभीषण[175] एवं अन्य संतों को सालोक्य मुक्ति[176] और जटायु को सारूप्य मुक्ति[177] देते हैं। वस्तुत: शंकरदेव और तुलसी दोनों में से किसी को मुक्ति काम्य नहीं है। वे मुक्ति और भक्ति में अंतर पाते ही नहीं। यथा-

शंकरदेव : जाहे भकति ताहे मुकुति भकते ए तत्त्व जाना।[178]

तुलसीदास: राम भजत सोइ मुकुति गोसाई। अनइच्छत आवइ बरिआई।।[179]

मुक्ति निस्पृहता भक्ति धर्म की सर्वसामान्य विशेषता है। इसीलिए शंकरदेव और तुलसी दोनों मुक्ति की नहीं, भक्ति की आकांक्षा करते हैं-

शंकरदेव : 1. नमागोहो सुखभोग नलागै मुकुति।
तोम्हार चरणे मात्र थाकोक भकति।।[180]

2. मोक्षतो अभिलाष नाहि हरि।
तोम्हार चरण रेणुक एरि।।[181]

तुलसीदास : 1. रघुपति बिमुख जतन कर कोरी।
कवन सकइ भव बधन छोरी।।[182]

2. धर्म तें बिरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।।[183]

मोक्ष साधन के रूप में दोनों कवियों ने भक्ति को सर्वोपरि महत्त्व दिया है। शकरदेव ने भक्ति में नाम-स्मरण पर सर्वाधिक बल दिया है। नाम-स्मरण और कीर्तन का महत्त्व तुलसी में भी है। ज्ञान-मार्ग को शंकरदेव में जितना महत्त्व मिला है, उतना तुलसीदास में नहीं। तुलसी ने भक्ति को ही सर्वगुण सम्पन्न और स्वतंत्र- 'भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी'[184] कहा है एवं ज्ञान-विज्ञान को उसी के अधीन स्वीकार किया है।[185] शंकरदेव ने नाम-स्मरण-कीर्तन को ही सबका मूल माना है। इस प्रकार दोनों की दृष्टि में श्रेष्ठ मोक्ष-साधन भक्ति ही है।

निष्कर्ष

शंकरदेव और तुलसीदास की ऊपरि विवेचित दार्शनिक मान्यताओं से स्पष्ट है कि दोनों अद्वैत मत के अनुयायी है। दोनो को दार्शनिक स्तर पर ब्रह्म के दो रूप मान्य हैं। पहला, शुद्ध परब्रह्म रूप जो निर्गुण, निराकार है। यह रूप प्रकृति के सत्व, रज और तम गुणों तथा उनके विकारों से सर्वथा मुक्त होने पर भी दया दाक्षिण्य, प्रीति इत्यादि दिव्य गुणों से विभूषित है- और इसीलिए वह भक्ति का विषय भी है। शंकरदेव की निर्गुण भक्ति का यही रहस्य है। दूसरा है अवतार रूप जो सगुण-साकार है और मानवीय गुणो से युक्त होकर लीला में प्रवृत्त होता है। किन्तु यह सगुण रूप तत्वत. निर्गुण है- अथवा निर्गुण-सगुण से परे परात्पर ब्रह्म है। यह सगुण लीलामय रूप भी ब्रह्म का अविकृत रूप ही है, मायाविष्ट रूप नहीं। शंकरदेव और तुलसी दोनों ने सगुण और निर्गुण ब्रह्म में सिद्धान्ततः भेद नहीं माना है किन्तु शंकरदेव के आराध्य निर्गुण-निराकार हैं और तुलसी के सगुण-साकार।

शंकरदेव और तुलसी दोनों ने जीव को ब्रह्म का चिद् अश स्वीकार किया है। माया के वशीभूत होने के कारण जीव ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होता है। इसीलिए जीव का लक्ष्य माया को भेद कर ब्रह्म तक पहुँचना दोनों को स्वीकार्य है।

जगत् और संसार विषयक दोनों के विचार भी प्रायः एक समान हैं। जगत को जीव की तरह ही ब्रह्म का अंश, अतः सत्य स्वीकार किया गया है। ससार से तात्पर्य है सांसारिक सम्बन्ध जो मिथ्या और नाशवान है। कुछ ऐसे उदाहरण भी दोनो मे मिलते हैं जहाँ जगत् ससार (यानी मिथ्या और नाशवान) के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है।

माया ब्रह्म की दासी है। माया के विद्या और अविद्या रूप शंकरदेव और तुलसी दोनों को मान्य हैं। विद्या-माया ससार का सृजन और भक्तों की सहायता करनेवाली है। इसके विपरीत अविद्या-माया जीव को ब्रह्म से दूर ले जाती है। छल, कपट, मोह इत्यादि उसीके विभिन्न रूप हैं।

सांसारिक बन्धन से मुक्ति और ब्रह्मत्व की प्राप्ति को शंकरदेव और तुलसी ने मोक्ष माना है। मोक्ष के दोनों रूप-जीवन-मुक्ति और विदेह-मुक्ति आलोच्य कवियो को मान्य है। जीवन-मुक्ति विदेह मुक्ति से उत्तम कही गयी है। विदेह-मुक्ति के विभिन्न प्रकारों के उल्लेख भी दोनो ने किये हैं। किन्तु दोनों ने मुक्ति की अपेक्षा भक्ति को अधिक महत्त्व दिया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शंकरदेव और तुलसीदास के दार्शनिक विचारो मे साम्य अधिक है वैषम्य कम

–

1 भ प्र. 111
2 भाग 8/1196
3 भ र. (13 मा.); मानस 1/50, 3/31/3, 7/85, 7/110/2; वि.प 53
4 के. गो ना. (भटिमा)
5 मानस 3/31/2
6 कीर्तन 748, मानस 1/104/3
7 भाग. 1/915
8 भाग. 8/201
9 वही 8/205, भ र 27
10 भाग 11/72
11 मानस 1/184/3
12 कीर्तन 1820, भ र. 2, बर' 4; मानस 7/109/8
13 कीर्तन 671, मानस 7/79/3
14 भाग 10/1834
15 मानस 6/14/1-15 (ख)
16 भाग 10/1149
17 के. गो ना
18 वही
19 वै स. 3
20 वि. प. 53
21 मानस 1/117/3-4
22 का द ना.
23 मानस 1/50 (छं)
24 भ. प्र. 300
25 कीर्तन 1
26 अ. पा. 40
27 वही
28 वही
29 वही
30 वही
31 ह. उ. 616
32 भ. प्र. 131
33 भाग 10/642
34 भाग 10/479 649
35 भाग 10/1830

36. का द. ना.
37. वही
38. भाग. 3/41-42
39. नामघोषा 357
40 कृ.गी 38
41. वही
42 वि प 56
43. भ. र 13
44. भाग 10/1829
45. मानस 1/22/1
46. मानस 7/110/4, तुलनीय . अ. पा 157
47. दोहा 252, मानस 5/48
48. कीर्तन 2102-3
49. भाग. 10/409
50. शंकरदेव : साहित्यकार और विचारक, पृ 118
51 मानस 1/115/1
52 पा ह. ना
53. भाग. 10/313,642, मानस 1/50
54. भाग. 10/642, 1140
55 कीर्तन 1569; वि प. 43, 52, मानस 1/120/3-4
56. भाग. 10/64, 170; मानस 5/38/1
57. भाग 10/983
58. गी व. 7/38
59. मानस 1/198
60. कीर्तन 2/14, नि. न. सि 278, वि.प 52
61. कीर्तन 15-33
62. वि प 52, मानस 6/110/4
63. पा ह. ना.
64. भाग 8/153
65. मानस 3/9/9
66 वि.प. 55
67 का. द ना
68. भाग 10/497
69. अ. पा. 134
70 के गो ना
7 वही

72. वही
73 कविता 7/126
74. मानस 1/ 126/1
75. कविता 7/126, मानस 2/145/1, 2/126/1, 5/20/3
76. मानस 1/145/1
77. वही 5/20/3
78. कीर्तन 523
79. मानस 7/130
80. कीर्तन 17 (घोषा)
81. वही 39 (घोषा)
82. भाग. 10/1502
83. वही
84. ह. उ. 4
85. भ. प्र. 33
86. भाग. 10/मंगलाचरण, कीर्तन (मंगलाचरण)
87. कीर्तन 128
88. कीर्तन 120
89. भाग. 8/329
90. कीर्तन 449
91. मानस 6/12/2
92. वही 6/113/5
93. वही 6/44/3
94. दोहा 50
95. मानस 1/128/3
96. मानस 7/87
97. मानस 2/182/3
98. भाग. 12/176
99. कीर्तन 1656
100. बर 7
101. मानस 7/116/1
102. वही 4/10/3
103. वि. प. 136
104. भाग. 10/1902
105. वही 12/174-75
106. मानस 3/15
107 वही 1/115/4

108. भाग 12/204-5, मानस 4/10/3
109. नि न स 197-98; मानस 4/1/5, वि प. 136
110 भ र 22/3, मानस 7/77/2
111 भाग. 10/100-7,1192, कृ गी. 25/1
112. ह.उ 492, अ.पा 76, वै स 5,6; मानस 2/91/2,118/2
113. अ पा. 66; दोहा 246
114. मानस 7/117
115. अ पा. 63, 69
116. वि. प 54,59, 74, 203 इत्यादि
117. बर 12
118. मानस 1/201/2
119. कीर्तन 1669
120. मानस 1/ श्लोक 6
121. वही 1/116/4
122. (क) The world is unreal, but has the ultimate reality of Brahma as its basis and therefore, looks like the real. It thus has an emperial existance.

    - M Neog, Sankardeva and His Times, p- 225

    (ख) The world is not actually real but apparently real B C Goswami, Sankardeva and neo-vaisnavism of India, p. 80 (type copy)
123. Vaisnavism of Sankardeva and Ramanuja : A comparative study. p. 110 (type copy)
124. भाग 2/1293
125. कीर्तन 1824
126. वहीं 1815
127. वही 1662
128. मानस 7/12/5
129. कविता 7/39
130. मानस 1/7 (घ)/ 1
131. वही 7/112 (ख)
132. वि. प. 111
133. बर. 17
134. रू ह का 447
135 वि प 188
136 मानस 6/77

137. नि. न स 182, भ.र 34/1,5/7; वि.प. 54
138. मानस 1/224/2, 3/14/3, 5/5
139. कविता 6/14
140. मानस 7/79 (ख)/2-3-4
141. भगवानचन्द्र गोस्वामी, श्रीशंकरदेव एण्ड नियो वैष्णविज्म ऑफ इंडिया, पृ 105
142. बापचन्द्र महंत- महापुरुष शंकरदेव, पृ 188
143. बर. 11
144. भाग 2/1446
145. मानस 1/199/2
146. वही 3/14/1
147. वही 3/14/2
148. बर. 14, दोहा 263
149. भाग 10/379-80 (कुरुक्षेत्र)
150. वही 524
151. मानस 1/116/4
152. वही 7/114/7
153 वही 7/115/3, भाग 2/1291
154. भाग 12/450, नि न.स 172, मानस 7/115/2
155. मानस 7/70/2
156. भाग 8/657; दोहा 267
157 भाग 8/658
158. मानस 7/70 (ख)
159. नि. न स 125, अ. पा. 43
160. अ पा 50
161. मानस 3/14/3
162. वही 1/ श्लोक 5
163. वही 7/71 (क)
164. वही 7/70/9
165. वही 7/71 (ख)
166. बर 14
167. भाग 12/170
168. नि न स. 152
169. कीर्तन 455
170 भाग 12/231
7 मानस 3 35/छ

172. वही 6/70/4
173. वही 6/102/5
174. वही 4/10/1
175. वही 6/116 (ख)
176. वही 7/14/2
177 वही 3/31/1
178. बर. 10
179. मानस 7/118 (ख)/ 2
180. कीर्तन 523
181 वही 792
182. मानस 1/199/2
183. वही 3/15/1
184. वही 7/44/3
185. वही 3/15/2

तृतीय अध्याय

भक्ति विषयक विचारधारा

मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन धर्म-अध्यात्म की नवीन व्याख्या और हिन्दू समाज की एकनिष्ठता को अन्वित-संयोजित करता है। वह मध्यकालीन भारतीय पुनर्जागरण का परिणाम है। आलोच्य कवि शंकरदेव और तुलसीदास उसकी इकाई हैं। दोनों के भक्ति-काव्यों की मूल चिन्ता तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और आचारिक व्यवस्था के संयोजन और संरक्षण द्वारा मानव में भावात्मक ऐक्य के लिए अपेक्षया नये भक्तिमार्ग का सन्धान करना है। दोनों हैं वैष्णव भक्त ही, किन्तु एक अन्तर के साथ। शंकरदेव जहाँ विष्णु के नरावतार देवकी पुत्र कृष्ण के निर्गुण, निराकार रूप के किंकर हैं, वहाँ तुलसी दाशरथि राम के 'दास'। तुलसी ने अपने को मात्र संत और भक्त ही बनाये रखा (यद्यपि उन्हें भी मठाधीश और धर्म गुरु बनाने की चेष्टा हुई थी)। इसीलिए वे करोड़ों के अंतरंग सखा, पथ-प्रदर्शक और हिन्दू-जीवनादर्शों के लिए ज्योति स्तम्भ बने जबकि शंकरदेव को संत और भक्त के अतिरिक्त कलागुरु, धर्मगुरु और धर्माचार्य भी बनना पड़ा, इसलिए वे लाखों असमियाओं के लिए, असम की वर्तमान धार्मिक-सामाजिक संरचना के जनक, धर्मगुरु और अंततः कृष्ण के अवतार यानी भगवान् तक बन गये।

शंकरदेव और तुलसीदास दोनों ने भक्ति विषयक अपनी समस्त धारणाएँ पूर्ववर्ती भक्ति-सूत्रों एवं भक्ति विषयक ग्रन्थों से ही ली हैं। दोनों द्वारा स्वीकृत भक्ति-मार्ग भारतीय धर्म-साधना मे अति प्राचीनकाल से विकसित-पल्लवित पारम्परीण मार्ग है। भक्ति का अर्थ है- भजनीय के प्रति प्रेम[1]। भक्ति का सर्वस्व है भगद्विषयक अनन्य प्रेम। प्रेम के दो रूप माने गये हैं- सकाम और निष्काम। प्रेम के दोनों रूपो मे पर्याप्त अन्तर है। आलोच्य भक्त कवियो ने भक्ति में निष्काम प्रेम को अधिक महत्त्व दिया है। शंकरदेव ने 'भक्ति रत्नाकर' के 'भक्ति-योग' नामक दशम माहात्म्य में लिखा है- " . . .अमलया अव्यभिचारिण्या भक्तया एव हरिः प्रीयते' और तुलसी की भी घोषणा है-

स्वारथ परमारथ रहित सीताराम सनेह।
तुलसी सो फल चारि को फल हमार मत एह ।[2]

दोनों ने अपनी-अपनी रचनाओं में ईश्वर के प्रति निष्काम प्रेम को ही भक्ति के रूप में अनेक विध प्रतिपादित किया है। शकरदेव ने इसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों रूपों का प्रतिपादन किया है। उनके **'भक्ति-प्रदीप'** और **'भक्ति-रत्नाकर'** जहाँ भक्ति के सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रंथ हैं, वहीं शेष रचनाएँ उसके व्यावहारिक आचरण के। तुलसी ने अलग से कोई सिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रंथ नहीं लिखा है, पर **'रामचरितमानस'** के उत्तरकाण्ड में भक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए अवसर निकाल लिया है। इसी प्रकार उन्होंने **'कवितावली'** के चातक-प्रेम वर्णन (चातक छत्तीसी) एवं अन्य रचनाओं में यथा अवसर ईश्वर के प्रति निष्काम-प्रेम का गायन किया है। दोनों ही इस अटूट विश्वास के साथ भक्ति के आकांक्षी हैं कि भक्ति के अभाव में ज्ञान, कर्म, जप, तप इत्यादि सभी व्यर्थ है।

शंकरदेव : 1. जन्मे जन्मे ताहान चरणे होक रति[3]

2. न मागोहों सुखभोग, न लागे मुकुति।
तोमार चरणे मात्र थाकोक भकति।[4]

तुलसीदास : 1 प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम[5]

2. कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम।[6]

भक्ति की महत्ता, श्रेष्ठता, सुगमता इत्यादि का दोनों कवियो ने निरन्तर प्रतिपादन किया है।

भक्ति की महत्ता

शंकरदेव और तुलसीदास दोनों ने भक्ति की महत्ता समान रूप से स्वीकृत की है। शंकरदेव के अनुसार जहाँ मानव का परम लक्ष्य होना चाहिये कृष्ण की सर्वभावेन भक्ति, वहाँ तुलसीदास के अनुसार राम की अनपायनी भक्ति। दोनों ने अपनी-अपनी रचनाओं में अपने आराध्यदेव की भक्ति के महत्त्व का गायन और प्रतिपादन करते हुए अघाते नहीं हैं।

शंकरदेव की भक्ति का आधार ग्रन्थ है- **'भागवत'** जिसे वे 'पुराण सूर्य', **'बैकुण्ठरशास्त्र'** और 'बेदान्तरो इहो परमतत्त्व' मानते हैं। अपने सिद्धान्त ग्रंथ 'भक्ति-रत्नाकर' के विभिन्न माहात्म्यो में शंकरदेव ने क्रमश. भक्तिज्ञान, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, भक्ति-योग, उत्तम भक्ति, उत्तम भक्त, मध्यम भक्त, प्राकृत भक्त, प्रार्थनादि भगवद्-भक्ति के रूप और कलि के परम धर्म भक्ति का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है[7] क्लौ हरिगुण नाम कीर्तनेव भगवत इति निर्णीतम के वे प्रबल पक्षधर हैं भक्ति ८ के अतिरिक्त अ य रचाओ मे भी

में समर्थ हैं-

तर्क बेद बेदान्तक यद्यपि जानोक।
कोटि कोटि जन्मे योग ज्ञान अभ्यासोक।।
तथापितो नाहि मोक जानिते शकति।
कहो सत्य पावे मोक केवल भकति।[36]

: कहहि संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना।।
सोई मुनि तुम्ह मन कहेउ गोसाई। नहि आदरेहु भगति की नाई।[37]

ह पाप से मुक्त करती है,[38] चाण्डाल तक भी भक्ति के कारण सम्मानित बन
ांकरदेव और तुलसी दोनों ने मुक्ति की अपेक्षा भक्ति को अधिक श्रेयस्कर

रदेव : मुकुति सुखतो करि भकतिसे बड़।[40]
सीदास : मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने।[41]

भक्ति की सहजता

ाव-चिन्ताधारा में भक्ति को सर्वसुलभ मार्ग घोषित किया गया है- अन्यस्मात्
ात्कौ।

रदेव और तुलसीदास दोनों ने ब्रह्म-पद की प्राप्ति के विभिन्न साधनों मे
न केवल श्रेष्ठ बल्कि सुलभ, सहज और सुखदायी घोषित किया है।
की मान्यता है कि- 'कृष्णर सेवात किछु नाहिके भागर'।[42] उनके अनुसार
ी प्रकार के धार्मिक कृत्य मायामय है और केवल ईश्वर की भक्ति या
की भक्ति ही वेदवाक्य है।[43] इसीलिए श्रीकृष्ण का अर्जुन से स्पष्ट कथन है-
तजि मोके मात्र भजि, तुमि हैबा कृत्यकृत्य।'[44] तीर्थ, व्रत, तप, जप, योग,
ं अन्य धर्म-कर्म मुक्तिदातृ नहीं,[45] केवल भक्ति ही मुक्तिदातृ है। वस्तुत
र मुक्ति में कोई भेद है ही नहीं- 'याहे भकति ताहे मुकुति।'[46] शंकरदेव की
लसी ने भी भक्ति की सुलभता और सहजता का बार-बार कथन किया है-

क) सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।[47]
ख) रघुपति-भगति सुलभ, सुखकारी।[48]

विभिन्न साधनों में भक्ति की सहजता का प्रतिपादन करते हुए तुलसी ने अन्य
की कठिनता का उल्लेख किया है।[49] इस संदर्भ में तुलसी द्वारा अंकित
दीपक' और 'भक्ति-चिंतामणि' के रूपक प्रमाण हैं।

वस्तुत: भक्ति की सहजता और सुलभता के व्याख्यान को सारांशत: आलोच्य
के शब्दों में ही निम्नांकित रूप मे रखा जा सकता है-

शंकरदेव : हरिर सेवात किछु नाहिकै प्रयास,
आपुनि लैवन्त हरि हृदयत बास।।[50]

तुलसीदास : कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न मख जप तप उपवासा।।[51]

आलोच्य कवियों द्वारा मान्य भक्ति की सहजता, सुलभता, सर्वग्राहिता इत्यादि से भी स्पष्ट है कि दोनों ने भक्ति-मार्ग को राज-मार्ग[52] घोषित किया है। भक्ति के सहज-सरल मार्ग पर प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्रता के साथ चल सकता है, वर्ण-जाति रूप-रंग आदि न तो इसमें बाधा उपस्थित करते हैं और न ज्ञान-वैराग्य जैसे अन्य साधनों का कष्ट ही झेलना पडता है।

शंकरदेव : नचावै अजाति जाति पापी पुण्यवन्त।
भकतिते वश्य किनो प्रभु भगवन्त।।[53]

तुलसीदास : कै तोहिं लागहि राम प्रिय, कै तू प्रभु-प्रिय होहि।
दुई महँ रुचै जो सुगम सो, कीबै तुलसी तोहि।।[54]

भक्ति के साधन

शंकरदेव की 'कृष्णार प्रसादे समस्ते हुइ' और तुलसीदास की 'होइ हैं सोइ जो राम रुचि राखा' जैसी उक्तियो से स्पष्ट ध्वनित होता है कि दोनों ने भक्ति का मूल निष्पादक तत्त्व आराध्य देव की कृपा को स्वीकार किया है। भगवद् कृपा जैसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व के अतिरिक्त भी दोनों ने कतिपय अन्य किन्तु समान साधनो के कथन किये हैं।

शंकरदेव के अनुसार भगवत् कथा का सश्रद्ध श्रवण (कृष्ण कथा अमृत पियो सावधाने- भाग. 2/12/9), भगवतन्नाम का निरन्तर संकीर्तन (नाहि आन धर्म हरि कीर्तनत पर-वही), स्तुतियों द्वारा भगवान का स्तवन (पदमिच्छन गायति चामृतदे-तोटय), भगवान् के भक्तों और संतों की संगति (संतर संगति निति बाढे भकतिर, प्रीति- भाग. 1/1039), समस्त प्राणियो के प्रति भगवद् दृष्टि रखना (कुकुर शृगाल गर्दभरो आत्माराम- की./1823, भा.1/253), सभी कर्मों और अपने को भगवदर्पण करना (हुआ एकमत ईश्वर कृष्णागत, अर्पिब सि सब धर्म- नि. न. सं 653) जैसे भक्ति के साधन तो शंकरदेव और भागवत्कार दोनों को प्रायः समान रूप से मान्य हैं।

तुलसीदास ने भी प्रायः उन्हीं को साधन स्वरूप स्वीकार किया है। 'रामचरित-मानस' में रामने लक्ष्मण से भक्ति-प्राप्ति के निम्नांकित आठ साधन[55] बताये है-

1 विप्रचरण प्रीति

2. श्रुति अनुसार स्वकर्म पालन
3. संत-चरण प्रेम
4. भगवत्भजन मे दृढ नेम
5. ईश्वर में सभी सांसारिक सम्बन्धों की प्रतीति
6. भगवान के गुण-कीर्तन
7. काम-क्रोधादि से रहित होना
8. निष्काम भजन

यहाँ तुलसी द्वारा प्रयुक्त 'विप्र' का तात्पर्य तत्त्वज्ञ ब्राह्मण[56] से है। 'भागवत' में वर्णित नवधा भक्तियाँ शंकरदेव और तुलसी दोनों को मान्य हैं। तुलसी ने तो घोषणा की है- 'श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मन लीला रति अति मन माहीं।'[57] शबरी से नवधा भक्ति की चर्चा करते समय तुलसी ने राम से जो कुछ कहवाया है[58] वह प्रायः अध्यात्म रामायण[59] में उल्लिखित नव-विधा भक्ति का ही किंचित् क्रमान्वतरित रूप है। उसे भी साधन रूप में स्वीकार किया जा सकता है, यथा-

1. सत्संगति
2. भगवत्कथा के प्रति अनुरक्ति
3. गुरु सेवा
4. निष्कपट भाव से भगवान का गुण-गायन
5. मंत्र जप और भगवान पर दृढ विश्वास
6. इन्द्रिय दमन, कर्म से वैराग्य और साधनों के धर्मों से प्रीति
7. ससार को राममय मानना और संतों को राम से भी अधिक समझना
8. यथा लाभ संतोष और दूसरे के दोष को नहीं देखना
9. निष्कपटता, सरलता और भगवान का भरोसा करते हुए हर्ष और दैन्य से विरत रहना।

स्पष्ट है कि तुलसी ने भक्ति के निष्पादक तत्त्वों का शंकरदेव की अपेक्षया अधिक विस्तृत कथन किया है। दोनों की रचनाओं में भक्ति के अधिकांश साधन समान हैं फिर भी उनमें कतिपय भिन्नताएँ भी हैं। तुलसी ने भागवत्कार के अनुरूप ही भगवान की प्रतिमा को साष्टांग प्रणाम करना भक्ति का साधन माना है। शंकरदेव ने सिद्धान्ततः तो इसका कथन नहीं किया है। पर उनकी रचनाओ में उपस्थित होनेवाले पात्र प्रसंग विशेष में भगवान अथवा उनकी प्रतिमा को साष्टांग प्रणाम अवश्य करते हैं। वस्तुतः शंकरदेव ने देव, नाम, गुरु और भक्त को अधिक महत्त्व दिया है तुलसी को भी ये बाते गभीर अर्थों मे मान्य हैं अन्तर

केवल यह है कि उनकी मान्यता में इसका वैसा साम्प्रदायिक रूप नहीं है जैसा शकरदेव के मत में उपलब्ध है।

भक्ति के बाधक तत्त्व

शंकरदेव और तुलसी दोनों ने भक्ति के बाधक तत्त्वों में अहमन्यता, संशय, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, कुतर्क, पाखण्ड इत्यादि को भक्ति-विरोधी घोषित किया है।

आराध्य देव के प्रति अनन्य निष्ठा का न होना भक्ति का सर्वोपरि बाधक तत्त्व है। 'तर्का प्रतिष्ठानात्'[60] और 'नैषा तर्केन मतिराय नेया'[61] जैसी घोषणाओं के अनुरूप शकरदेव ने 'बिश्वासे मिलय हरि तर्के बहुदूर' और तुलसी ने 'बिनु बिस्वास भगति नहि।' की मान्यता व्यक्त की है। अनन्य निष्ठा के पोषण के लिए ही शंकरदेव ने 'अन्य देव-देवी नकरिबा सेव'[62] अथवा 'नकरिबा सेवा सखि आन देवतार'[63] जैसी घोषणा की ओर तुलसी ने 'तजि कुतर्क संसय सकल। भजहु राम रघुबीर।'[64] की बात कही। वस्तुत. दोनों के अनुशासन एक समान ही है।

भक्ति का एक अन्य प्रमुख बाधक तत्व है अभिमान। साधारण मनुष्यों की कौन कहे यह महान साधकों तक को नहीं छोडता। शंकरदेव ने सृष्टिकर्ता ब्रह्मा,[65] इन्द्र आदि का दृष्टान्त उपस्थित किया है। तुलसी ने नारद और गरुड के मोह के प्रसग को उपस्थित कर उनकी अहमन्यता को भक्ति-विरोधी तत्त्व के रूप में वर्णित किया है। तुलसी के अनुसार 'जिता काम अहमिति मन माहीं'[66] की स्थिति नारद जैसे ऋषि तक को भी भेदती है। इसीलिए वे अभिमान को त्यागने की राय देते हैं[67] और शकरदेव के श्रीकृष्ण गोपियों की अहम्मन्यता को समाप्त कर भक्ति-वृद्धि करने के लिए अन्तर्ध्यान होते हैं।[68]

भक्ति के अन्य बाधक-तत्त्वों में काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग इत्यादि के कथन दोनों ने किये है। यथा-

शंकरदेव : 1. काम क्रोध मद मान मोह मेरि,
ऐसब बैरी विशाल।[69]
2. काम क्रोध कुत्ता खेदि खाइ
. . . . .
लोभ मोह दुहो बाघ सतते नछाड़े लाग
राखु राखु सदाशिव।।[70]

तुलसीदास · काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजिहिं जेह सत

आशा, तृष्णा, काम, क्रोध, मोह, तर्क, वितर्क आदि को अन्यत्र भी शंकरदेव ने एक रूपक द्वारा भक्ति के बाधक रूप में उपस्थित किया है[72]। तुलसी ने भी 'अविद्या' माया को भक्ति विरोधी स्वीकार कर उसकी व्यापकता का कथन किया है[73]। ये सब भक्ति के बाधक-तत्त्व ही है।

दुर्जनों की संगति भी भक्ति मार्ग मे बाधक है, इसलिए- 'दु:सग सर्वथैव त्याज्य:'[74] का अनुशासन है। शकरदेव ने इसका विस्तृत वर्णन 'पाखण्ड-मर्दन' मे किया है। 'पत्नी-प्रसाद' मे ब्राह्मणो के पाखण्ड का निरूपण भी दु:सगति का प्रत्याख्यान ही है। और तुलसी की तो स्पष्ट घोषणा ही है- 'को न कुसंगति पाइ नसाई'[75]। तुलसी ने मानस के 'उत्तरकाण्ड' में जिस 'मानस-रोग' का निरूपण किया है, वह भक्ति का बाधकतत्त्व ही है। तुलसी द्वारा निरूपित असंतों के लक्षण और शंकरदेव द्वारा 'भक्ति-प्रदीप' में वर्णित 'नारद-चण्डालिनी संवाद' में गिनाये गये अधिकांश तत्त्व भक्ति मे बाधा उत्पन्न करने वाले हैं।

संक्षेप में कहा जायेगा कि आलोच्य दोनों कवियों ने आराध्य देव के प्रति अनन्य निष्ठा का अभाव, अभिमान, मोह, काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेष, प्रभुता, चिंता, माया, कुतर्क, अश्रद्धा इत्यादि को भक्ति का बाधक माना है।

भक्ति के भेद

शंकरदेव और तुलसीदास निर्विवाद रूप से भक्त कवि है। इन कवियों को भक्ति के विभिन्न रूप तो मान्य हैं पर दोनो द्वारा भक्ति-भेद में किंचित् अंतर भी है।

शंकरदेव और तुलसी द्वारा मान्य भक्ति रूप मूलत: 'भागवत' के अनुरूप है। शकरदेव ने 'भक्ति-भेद' 'भागवत्' और 'गीता' के अनुरूप प्रस्तुत किये है। उनके द्वारा निरूपित भक्ति-भेद निम्नांकित हैं-

(क) भक्ति-रत्नाकर- अड़तीसवें माहात्म्य के आधार पर-

भक्ति

तामसी भक्ति | राजसी भक्ति | सात्त्विकी भक्ति | उत्तमोत्तम भक्ति
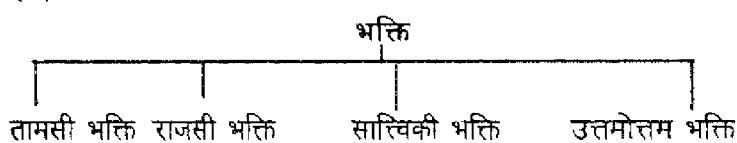
(ख) भक्ति-रत्नाकर- माहात्म्य 11, 12, 13 और 14 के आधार पर-

भक्ति

सप्रेम भक्ति | अंतरंग भक्ति | उत्तम भक्ति | निर्गुण भक्ति
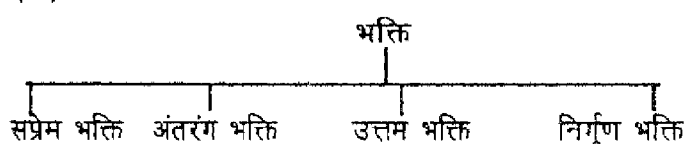
इस वर्गीकरण के अतिरिक्त शंकरदेव के विभिन्न ग्रंथों में भक्ति के कई अन्य रूपों निष्काम भक्ति[76] प्रेमा भक्ति[77] निर्गुण भक्ति[78] मोक्षतम भक्ति[79] रहस्य भक्ति[80]

अव्यभिचारी भक्ति[81] के भी उल्लेख मिलते हैं।

तुलसी ने शंकरदेव जैसा भक्ति का कोई वर्गीकरण तो प्रस्तुत नहीं किया है पर उन्हें भक्ति के दो भेद- सकाम[82] और निष्काम[83] मान्य हैं। इन दोनों भक्तियो का उन्होंने वर्णन किया है एवं उनमे निष्काम भक्ति को अधिक महत्त्व दिया है। भक्त तुलसी 'निष्काम भक्ति' के अनन्य आकांक्षी हैं।[84] वस्तुतः तुलसी की 'निष्काम भक्ति' भागवत की 'अहैतुकी भक्ति'[85] की तरह है।

साधन-भेद से भक्ति वैधी और रागानुगा- दो प्रकार की मानी जाती है। ये दोनों भेद भी तुलसी को मान्य हैं। तुलसी के अनुसार शास्त्रों के उपदेशों के श्रवण करने के परिणाम स्वरूप भगवत्-चरणों में होनेवाली प्रीति वैधी[86] भक्ति मानी जाती है और भगवान के चरणों में स्वाभाविक प्रेम से मनुष्य में उत्पन्न भजन की प्रवृत्ति- रागानुगा। इनके अतिरिक्त उन्हें भक्ति के कुछ अन्य रूप भी मान्य हैं। यथा-

1. अविरल भक्ति- अबिरल भगति बिरति सतसंगा।[87]
2. अनूपा भक्ति- पंथ कहत निज भगति अनूपा।[88]
3. परम भक्ति- लीन्हेसि परम भगति बर मागी।[89]
4. अनपायिनी भक्ति- अनपायनी भगति प्रभु दीन्ही।[90]

उपरि विवरण से स्पष्ट है कि आलोच्य कवियो द्वारा मान्य भक्तियाँ किंचित् अतर से प्राय: 'भगवत्' के ही अनुरूप हैं। जहाँ तक शंकरदेव की बात है उन्होने भागवत की निर्गुण भक्ति की एक अन्य सज्ञा 'उत्तमोत्तम' भक्ति भी दी है। वस्तुत भक्ति की दो मुख्य श्रेणियाँ मानी गयी हैं- पहली, गुणमयी और दूसरी निर्गुणा। इन्हे ही क्रमश: गौणी या अपरा और मुख्या या परा भी कहते हैं। निर्गुणा भक्ति प्रधानत दो अंशो मे विभक्त होती है-

ऐश्वर्य, ज्ञान-मिश्र या प्रधानीभूता और केवला अथवा रागात्मिका।[91] ऐश्वर्य-ज्ञान-मिश्रा निर्गुणा भक्ति की अपरिपाक दशा गुणमय और परिपाक दशा निर्गुणा होती है। केवला भक्ति प्रारंभ से ही निर्गुणा होती है जिसकी अपरिपाक दशा- रागानुगा और परिपाक दशा- रागात्मिका होती है। शकरदेव की उत्तमोत्तम भक्ति है निर्गुणा भक्ति ही जो परिपाक दशा मे रागात्मिका यानी प्रेम भक्ति मे परिणत हो जाती है। यथा-

गुणमय ज्ञान कर्म सबे परिहरि।
निर्गुण भक्ति धरि सखि सुखे तरि।।
गुणेसे करिछै सबे संसारर क्लेश।
ताक तरिबाक सखि शुना उपदेश

मोर कथा शुना निते गावा गुण यश।
तात हन्ते आति उपजिबे प्रेमरस।।[92]

प्रेम भक्ति के सम्बन्ध में उन्होंने अन्यत्र भी मान्यता व्यक्त की है, यथा-

प्रेम भकतिर चिहृण शुनियो उद्धवे।
हरि हरि बोलन्ते लोतक जार स्रवे।।
मोर कथा शुनते शरीर रोमांचित।
जाना तार परम पवित्र भैल चित्त।।
प्रेमे द्रवै चित्त आति गद गद वाणी।
कतो हासै कतो कान्दै मोक प्रिय मानि।।
लाज एरि गावै गुण नाचे आनन्दते।
जगत पवित्र करे सेहिसे भकते।।
मोक लागि प्रेम उपजिल जार मने।
नेरो तार हृदयक सखि सर्वक्षणे।।[93]

स्पष्ट है कि शंकरदेव के अनुसार निर्गुण्या भक्ति उत्तमोत्तम तभी होती है जब अपनी परिपाक स्थिति में वह रागात्मिका- 'प्रेम-रस' या 'प्रेमा-भक्ति' होती है।

तुलसी ने भी विभिन्न भक्तियों में प्रेमा-भक्ति को ही अधिक महत्त्व दिया है। शंकरदेव की तरह ही तुलसी ने प्रेम-भक्ति को मोक्ष से श्रेष्ठ माना है[94]। तुलसी ने प्रेमाभक्ति को चातक का स्वाति-प्रेम,[95] कमल का सूर्य-प्रेम,[96] मछली का जल प्रेम,[97] सर्प का मणि-प्रेम,[98] मृग का संगीत-प्रेम[99] इत्यादि से उपमित किया है। तुलसी की चातकता[100] और मीनता-सप्रेम[101] भक्ति के ही द्योतक हैं और श्रीराम से उनकी गोहारि है- **प्रेम भगति अनपायिनी देहु हमहि श्रीराम।**[102] तुलसी की मान्यता है कि- **प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।।**[103]

शंकरदेव ने सप्रेम-भक्ति का महत्त्व निम्नांकित रूप में व्यक्त किया है-

प्रेमर आस्पद कृष्ण मूर्ति स्फूर्ति हय।
एककाले मिले आसि सम्पद त्रितय।।[104]

स्पष्ट है कि यद्यपि शंकरदेव और तुलसी दोनों ने प्रेमा-भक्ति को समान रूप से महत्त्वपूर्ण माना है तथापि दोनों की भक्ति-पद्धति भिन्न-भिन्न हैं। शंकरदेव की भक्ति जहाँ निर्गुण्या है वहाँ तुलसीदास की सगुणा। शंकरदेव निर्गुण कृष्ण के गायक हैं किन्तु तुलसी सगुण राम के।

भक्ति के क्षेत्र में दो प्रकार के न्याय मर्कट किशोर न्याय और मार्जार किशोर न्याय स्वीकृत हैं दोनों की भक्ति पद्धतियाँ मर्कट किशोर न्याय की ही हैं

मार्जार किशोर न्याय की नहीं। दोनों अपने-अपने आराध्य देवों को कभी छोडते नहीं- सदा उन्हें पकड़े रहते हैं। दोनों अपने-अपने इष्टदेवों के प्रति अपनी पूज्य बुद्धि सर्वत्र बनाये रहते हैं। स्वामी-सेवक सम्बन्ध का निर्वाह करते हुए दोनो कवियों ने दास्यभाव की भक्ति पद्धति ही स्वीकार-अंगीकार की है।

भक्ति का साधन-क्रम

शंकरदेव द्वारा स्वीकृत निर्गुण्या अथवा 'उत्तमोत्तम' भक्ति अथवा तुलसी की 'अनपायिनी' भक्ति-भक्त-विशेष को आकस्मिक रूप से प्राप्त नहीं होती। उसके लिए भक्त को कतिपय विधि-निषेधों का पालन करते हुए एक निश्चित साधनक्रम से गुजरना पड़ता है। इस अर्थ में यह भक्ति वैधी हो जाती है। शंकरदेव और तुलसी दोनों ने भक्ति के साधन-क्रम यानी 'सोपानरूप' को प्राय: भागवत के अनुरूप ही स्वीकार किया है। इसे ही दोनों ने नवधा-भक्ति की संज्ञा दी है। भागवत वर्णित ये भक्तियाँ निम्नांकित है- श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, पाद-सेवन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। शंकरदेव ने भागवत वर्णित साधना-क्रम को ही स्वीकार किया है, केवल सख्य और आत्मनिवेदन को उन्होंने क्रमश सखित्व और देह-अर्पण की सज्ञा दी है। यद्यपि उन्होंने नवधा भक्तियों का उल्लेख किया है तथापि उन्होने केवल चार- श्रवण, कीर्तन, स्मरण और अर्चन को ही महत्त्व दिया है। यह इससे भी स्पष्ट है कि 'भक्ति रत्नाकर' मे केवल इन्हीं चारो की स्वतन्त्र व्याख्या हुई है[106]।

तुलसी ने मानस के 'अरण्य-काण्ड' में राम के माध्यम से शबरी के समक्ष नवधा भक्ति की चर्चा की है। वे वस्तुत: भक्ति के साधनाक्रम ही है, यथा-

प्रथम भगति सन्तह कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।
गुर पद पंकज सेवा तीसरी भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन करइ कपट तजि गान।।

मत्र जाप मम दृढ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा।।
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरतर सज्जन धरमा।।
सातवँ मम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा।।
आठवँ जथालाभ सतोषा। सपनेहुँ नहि देखइ परदोषा।।
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना।।[107]

यद्यपि तुलसी द्वारा स्वीकृत ये नव-साधन भागवत के अनुरूप शकरदे- के द्वारा मान्य-नव-साधना क्रमों से किंचित् भिन्न प्रतीत होते हैं, तथापि उनमे तात्विक एकता ही है विवेच्य कवियों के साधना क्रम की किंचित् तुलना मक चर्चा

अग्रांकित है-

(क) **श्रवण-कीर्तन-स्मरण** : इष्टदेव के यश, महत्त्व, गुण, नाम और उनकी लीलाओं का सश्रद्ध श्रवण- श्रवण भक्ति, सश्रद्ध कथन- पठन-गायन-कीर्तन भक्ति और एकाग्र चित्त से उनका स्मरण ही- स्मरण भक्ति है। इन तीनों में भगवन्नाम् को अधिक महत्त्व मिला है।

शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित मत में स्वीकृत चार सत्यों-नाम, देव, भक्त और गुरु में 'नाम' को प्रथम स्थान मिला है। यह उसके शीर्ष स्थानीय महत्त्व का सूचक है। यही कारण है कि शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित वैष्णव मत सामान्यतः **'नाम-धर्म'** अथवा **'एकशरणीया नामधर्म'** के नाम से प्रख्यात है। तुलसीदास ने 'नाम' को शंकरदेव की तरह साम्प्रदायिक रूप तो नहीं दिया है, पर उसके महत्त्व का बार-बार बहुविध वर्णन किया है। शंकरदेव और तुलसीदास दोनों द्वारा वर्णित 'नाम' के महत्त्व को निम्नांकित रूप में देखा जा सकता है-

शंकरदेव : नामे तप जप यज्ञ नामे योग ध्यान।
नामे दान पुण्य नामे कोटि तीर्थ-स्नान।।
नामे धन-जन बन्धु नामे पिता-माता।
नामे निज सुहृद नामेसे गति दाता।।[108]

तुलसीदास : (क) ब्रह्म राम तें नामु बड़ बर दायक बर दानि।
रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जियँ जानि।।[109]
(ख) नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु।।[110]

इसीलिए शंकरदेव ने स्वीकार किया है- **'अचिन्त्य महिमा नाम कहि नापाओं सीमा।'**[111] और तुलसी की मान्यता है- **'भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।'**[112]

श्रवण और कीर्तन को शंकरदेव ने नवधा-साधना क्रम मे 'महा-श्रेष्ठतर'[113] स्वीकार किया है। श्रवण भक्ति चारों पुरुषार्थों को देनेवाली है।[114] शंकरदेव ने कीर्तन को वैयक्तिक और सामूहिक दोनो स्तर पर प्रचारित किया था। आज भी असम के वैष्णवो में नाम-कीर्तन और प्रसंग के रूप में इसकी ख्याति है।

तुलसीदास ने भी श्रवण और कीर्तन भक्ति को बहुत महत्त्व दिया है। श्रवण भक्ति का स्वरूप तुलसी के शब्दों में निम्नांकित है-

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।।
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे।।[115]

उन्होंने सत्संग को श्रवण-भक्ति का प्रधान हेतु निरूपित किया है। कीर्तन का महत्त्व इसीसे स्पष्ट है कि उन्होंने नवधा भक्ति के प्रकारों में उसे चतुर्थ प्रकार की भक्ति कहा है।

(ख) **पादसेवन-अर्चन-वन्दन** : पादसेवन-अर्चन-वन्दन का सम्बन्ध आराध्यदेव के स्वरूप से है। शंकरदेव और तुलसी दोनों ने आराध्य देव को स्वामी और अपने को सेवक स्वीकार किया है। अतः, स्वामी के प्रति सेवक का लोक मे जैसा व्यवहार होता है, भगवान के लिए भक्त का वैसा ही सम्पूर्ण कार्य करना-पादसेवन भक्ति, इष्टदेव के स्वरूप की सश्रद्ध पूजा- अर्चन भक्ति और उनके माहात्म्य को आत्मार्पित कर उनका स्तवन करना वन्दन भक्ति है। शकरदेव ने स्वरूप-सेवा को स्वीकार नहीं किया है, इसीलिए उनका इन भक्तियों पर ध्यान कम टिका है। 'भक्ति-रत्नाकर' के नौवें माहात्म्य में शंकरदेव ने अर्चन भक्ति के स्वतंत्र रूप का विवेचन तो किया है किन्तु अन्य दोनों का नहीं। उनकी रचनाओ में इन भक्तियो के व्यावहारिक उदाहरण प्राप्त होते हैं। मनुष्य ही नहीं, ब्रह्मा, हर और पुरन्दर तक पादसेवन द्वारा ही हरि की चरणधूलि की आशा करते हैं।[116] वन्दन भक्ति का महत्त्व इसीसे पता चलता है कि प्रत्येक नवीन प्रसंग का आरम्भ करते समय वे ईश्वर-वन्दना करते हैं। शंकरदेव के मत में वन्दन और अर्चन का सम्बन्ध केवल आराध्य देव से ही नहीं बल्कि उनमें स्वीकृत चार सत्यों-नाम, देव, भक्त और गुरु मे अन्तिम तीनों के वन्दन और अर्चन से भी है। 'ओरेषा वर्णन'[117] 'रुक्मिणी हरण'[118] काव्य प्रसंग मे अर्चन और वन्दन भक्तियाँ साथ-साथ प्रतिपादित हुई हैं। पुन 'एकशरणीया मत' में देव-विग्रह की जगह 'ग्रथ-विग्रह' (भागवतादि) एव 'गुरु-आसन' के अर्चन, वन्दन की व्यवस्था है। यह व्यवस्था देव-विग्रह के वन्दन और अर्चन से बहुत भिन्न नहीं है। स्पष्ट है कि शंकरदेव के मत में ये तीनों भक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं।

तुलसी ने इन भक्तियों का सिद्धान्ततः प्रतिपादन भले ही कहीं न किया हो किन्तु उनकी रचनाओ में इन भक्तियों के पर्याप्त उदाहरण विद्यमान हैं। चूँकि उन्हें देव-विग्रह और उनकी पूजा मान्य है, इसीलिए इनके व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उन्हे पर्याप्त अवसर प्राप्त हुए हैं। यथा-

पादसेवन- (क) पद परवारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।[119]

(ख) बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना।।[120]

अर्चन- (क) तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं।।[121]

(ख) कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना।।
करहिं जोहारू भेंट धरि आगे। प्रभुहिं बिलोकहिं अति अनुरागे।।[122]

वन्दन- (क) बंदउँ बालरूप सोइ रामू। सब बिधि सुलभ जपत जिसु नामू।।[123]
(ख) ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला।।[124]

साधन-क्रम में अंतिम तीनों-दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन-भक्तों के मनोजगत से सम्बन्धित वृत्तियाँ हैं। इनका विवेचन आगामी पंक्तियों में भगवान और भक्त की मनोभूमि शीर्षक के अन्तर्गत किया जाता है।

(ग) भगवान और भक्त की मनोभूमि : भक्ति मानसिक भाव है। भक्त के मनोजगत में भगवान के प्रति लौकिक सम्बन्ध के अनुरूप ही वैयक्तिक सम्बन्धों की अनुभूति होती है। ये अनुभूतियाँ ही उल्लास, पवित्रता, अधीनता, निर्भरता, प्रेम, विश्वास, भय इत्यादि अनेक रूपों में व्यक्त होती हैं। भगवान और भक्त के मध्य होनेवाले सम्बन्धों का निर्धारण अनुभूति की विशिष्टता और उसके प्रकार पर निर्भर है। सम्बन्धों की दृढ़ता उत्तरोत्तर तभी बढती जाती है जब भक्त को यह विश्वास होता जाता है कि भगवान दुष्टों को दंडित करने[125] पृथ्वी का भार हरने[126] एवं भक्तों की रक्षा करने[127] के लिए उत्पन्न होते हैं। परिणामतः भक्त भगवान से माता, पिता, गुरु, स्वामी, शिशु, सखा, प्रिय, प्रेमिका इत्यादि मनचाहे सम्बन्धों का अनुभव करने लगता है। ये अलौकिक सम्बन्ध प्रस्तुत और लौकिक सम्बन्ध अप्रस्तुत बन जाते हैं और भक्ति में एक प्रकार की प्रतीक की सृष्टि हो जाती है। फलतः इन सम्बन्धों के अनुरूप ही 'पाँच रस भक्तियाँ हो जाती हैं। शम, प्रीति, प्रेम, वात्सल्य और मधुरा ये पाँच रतियाँ हैं जिनसे क्रमशः शान्ता, दास्या, सख्या, वात्सल्या और मधुरा भाव की पाँच रस-भक्तियाँ (भक्ति रस) उद्वेलित होती हैं।'[128]

शंकरदेव और तुलसी दोनों की रचनाओं में माधुर्य और सख्य के उदाहरण बिरल हैं। शेष भक्तियों को अपेक्षया अधिक महत्त्व मिला है। इनका तुलनात्मक निरूपण क्रमशः आगे किया जाता है।

(1) शान्ता भक्ति : संकल्प-विकल्प रहित मानसिक वृत्ति गीता[129] में प्रसन्नात्मा और भागवत[130] में निष्ठाबुद्धि कही गयी है। यह वैराग्यमूलक होने पर भी विधेयात्मक होती है- निषेधात्मक नहीं। यह एक प्रकार से ज्ञानमिश्रा भक्ति मानी जाएगी। शंकरदेव अथवा तुलसीदास किसी ने भी इसका सैद्धान्तिक निरूपण नहीं किया है। लेकिन उन दोनो के संसार से वैराग्य विषयक पदो मे यही भक्ति अभिव्यक्त हुई है। उनमें ईश्वरोन्मुख अलौकिक भाव ही शान्त रस के आधार बने है

शंकरदेव और तुलसी दोनों के काव्यों मे शान्ता भक्ति के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। संसार की क्षण-भंगुरता, वासनाओं का परित्याग, सत्संग, उपदेश, वैराग्य, आत्मप्रबोध इत्यादि को व्यक्त करनेवाले पदों में शांता भक्ति के उत्तम प्रकाशन हुए हैं। यहाँ दोनों के एक-एक उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं-

शंकरदेव : शारंगपाणि पाहे पामरमति हामि।[131]

तुलसीदास : लाभ कहा मानुष तनु पाये।[132]

(2) दास्या भक्ति : दास्या भक्ति में शांता भक्ति की अपेक्षा भक्त और भगवान के वैयक्तिक सम्बन्ध अधिक स्फुट होते हैं। इसमें शान्ता भक्ति की सभी विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं और नयी विशेषता यह जुट जाती है कि भक्त भगवान को अपना स्वामी मानकर उसकी सेवा में सच्चे सेवक की तरह जुट जाता है। इस प्रकार भगवान होता है स्वामी यानी कृपा करनेवाला और भक्त होता है सेवक यानी कृपा पानेवाला। इसमें भगवान के ऐश्वर्य और उनकी महत्त्व भावना तथा भक्त की लघुता, दीनता इत्यादि का मार्मिक कथन किया जाता है।

शंकरदेव और तुलसीदास दोनों की भक्ति मुख्यत. दास्य भाव की है। दोनो ने भक्त यानी सेवक की दीनता के जितने अतिरंजित वर्णन किये हैं, उतने ही भगवान यानी स्वामी के वैभव पराक्रम के भी। वस्तुत: दोनों कवि अपनी दीनता का वर्णन करते हुए न तो अघाते हैं और न थकते हैं। दास्य-भाव के दृढ अनुराग ने ही शकरदेव को 'कृष्ण किंकर' तो तुलसी को 'राम (को) गुलाम' बनाया है-

शंकरदेव : 1. तोमार अकाम भृत्य आमि।
तुमियो निष्काम मोर स्वामी।।[133]

2. कृष्ण किंकर शंकर भाण।
राम बिने नाहि गति आन।।[134]

तुलसीदास : राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम,
काम यहै, नाम द्वै हौं कबहुँ कहत हौं।[135]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार- 'भक्ति का मूल तत्त्व है महत्त्व की अनुभूति। इस अनुभूति के साथ ही दैन्य अर्थात् अपने लघुत्व की अनुभूति का उदय होता है।[136] फलत: भगवान के भक्त-वत्सल रूप के साक्षात्कार के लिए भक्त उनका लगातार विनय कर चलता है। भक्ति-शास्त्रों में विनय की सात भूमिकाएँ मानी गयी है- दीनता, मानमर्षत्ता, भयदर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा। शकरदेव और तुलसीदास दोनों की रचनाओं मे इन सातों भूमिकाओं का वर्णन एव निर्वाह हुआ है पंक्तियो से आरभ होनेवाले उनके पद देखे ज.

सकते हैं-

1. दीनता : शंकरदेव : नारायण चरणे करोहो गोहारि।[137]

तुलसीदास : कहाँ जाउँ ? कासों कहौं ? को सुनै दीन की।[138]

2. मानमर्षता : शंकरदेव : शारंगपाणि पाहे पामरमति हामि।[139]

तुलसीदास : काहे ते हरि मोहिं बिसारो।[140]

3. भयदर्शना : शंकरदेव : कमल नयन चित्त चित्त चेतन लाइ।[141]

तुलसीदास : राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।[142]

4. भर्त्सना : शंकरदेव : छिरि राम, मजि हरि पापी पामरू।[143]

तुलसीदास : ऐसी मूढ़ता या मनकी।[144]

5. आश्वासन : शंकरदेव : राम मेरि हृदय पकजे रैछे।[145]

तुलसीदास : ऐसे राम दीन हितकारी।[146]

6. मनोराज्य : शंकरदेव : शुन शुन रे सुर बैरी प्रमाणा।[147]

तुलसीदास : कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।[148]

7. विचारण : शंकरदेव : नारायण, काहे भकति करो तेरा।[149]

तुलसीदास : केसव ! कहि न जाइ का कहिये।[150]

दोनों कवियों ने शरणागति पर अधिक महत्त्व दिया है। शंकरदेव के मत की संज्ञा एकशरणीया धर्म है। तुलसीदास को भी भगवान की शरणागति ही काम्य है। शरणागति सम्बन्धी दोनों के विचार पाँचरात्र की प्रपत्ति के अनुरूप हैं। वहाँ इसके छह अंग माने गये हैं- आनुकूल्य का संकल्प, प्रातिकूल्य का त्याग, भगवान की रक्षणशीलता में विश्वास, गोप्तृत्ववरण, आत्म-निवेदन और कार्पण्य। इन छह अंगो के एक-एक उदाहरण स्वरूप निम्नांकित पंक्तियों से प्रारम्भ होनेवाले पद देखे जा सकते हैं। यथा-

1. आनुकूल्य का संकल्प :

शंकरदेव : पामरु मन राम चरणे चित्त देहु।[151]

तुलसीदास : राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे।[152]

2. प्रातिकूल्य का त्याग :

शंकरदेव : नाहि नाहि रमया बिने ताप तारक कोइ।[153]

तुलसीदास : जाके प्रिय न राम बैदेही।[154]

3. रक्षिष्यतीति विश्वासो :

शंकरदेव बोलहु राम नामेसे मुकुति निदाना[155]

तुलसीदास विश्वास एक राम नाम को[156]

4. गोप्तृत्ववरणम् :

शंकरदेव : गोपाले कि गति कैले । [157]

तुलसीदास : नाहिन और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति सम-बिपति-निवारन ।[158]

5. आत्मनिक्षेप :

शंकरदेव : सोइ सोइ ठाकुर मोइ जो हरि परकाशा ।[159]

तुलसीदास : ताहि तें आयो सरन सबेरें ।[160]

6. कार्पण्य :

शंकरदेव : मन मेरि राम चरणहि लागु ।[161]

तुलसीदास : राम को गुलाम, नाम रामबोला राख्यौ राम ।[162]

दास्य भक्ति मे आत्मनिवेदन को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। दोनों आलोच्य कवियों ने आत्मनिवेदन को उन्मुक्त होकर यथेष्ट विस्तार से उपस्थित किया है।

(3) सख्य भक्ति : सख्य भक्ति में दास्य की अपेक्षा भगवान और भक्त मे सामीप्य और अंतरंगता अधिक होती है। दास्य भक्ति मे भक्त और भगवान के बीच की दूरी सख्य भक्ति की अपेक्षा अधिक होती है। चूँकि भक्त यहाँ भगवान का मित्र और अंतरग बन जाता है, इसीलिए वह उसके गुप्त कार्यो से भी अपरिचित नहीं रहता। इसीलिए इसे प्रेयस रति भी कहते है।

शंकरदेव और तुलसीदास दोनों में सख्य भक्ति के सटीक उदाहरण प्राय नहीं मिलते हैं। यद्यपि शंकरदेव ने कृष्ण और गोप सखाओं के वर्णन तथा 'दामोदर विप्र आख्यान' में दामोदर के विवरण बहुतायत से रखे हैं, तथापि उनमें एक स्पष्ट दूरी बनी हुई है। परिणामत: उनमें 'मित्रभाव मनौवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित नहीं हो सका है। वस्तुत: सख्य के प्रेमावेश का उनमें सर्वत्र अभाव है, इसलिए उदाहरण खोजना आकाश-कुसुम का चयन करना है।'[163]

तुलसी ने सुग्रीव और विभीषण और निषाद को राम-सखा के रूप मे उपस्थित तो किया है, पर उनकी भक्तियाँ भी सख्य नहीं-दास्य भाव की ही हो गयी है। श्रीकृष्ण गीतावली में श्रीकृष्ण की छाक लीला अथवा गोचारण के क्रम मे तुलसी ने कृष्ण और उनके समशील और समवयस्क बालकों का जो वर्णन किया है उसमें सरलभाव का निरूपण तो हो गया है किन्तु उसे सख्य भक्ति का सटीक उदाहरण नहीं कहा जा सकता-

बलदाऊ ! देखियत दूरि तें.

आवति छाक पठाई मेरी मैया

किलकि सखा सब नचत मोर ज्यों,
कूदत कपि, कुरंग की नैया।
खेलत खात परसपर डहकत,
छीनत कहत करत रोगदैया।
तुलसी बालकेलि- सुख निरखत,
बरखत सुमन सहित सुरसैया।[164]

(4) वात्सल्य भक्ति : सख्य की अपेक्षा वात्सल्य अधिक निष्काम होता है। भगवान को पुत्रवत मानकर उनकी सुविधा, सुरक्षा का ध्यान रखते हुए निष्काम भाव से स्नेहाभिव्यक्ति ही वात्सल्य भक्ति है। कृष्ण भक्ति काव्य में वात्सल्य भाव की अद्वितीय अभिव्यक्ति यशोदा के भावों में मिलती है।

शंकरदेव ने कृष्ण की बाल-लीलाओं का भागवत् के अनुरूप विस्तृत विवरण उपस्थित तो किया है, किन्तु उनके काव्य में वात्सल्य की सर्वथा शुष्क और गंभीर अभिव्यक्ति का प्राय. अभाव है। 'कीर्तनघोषा' की 'शिशुलीला' खण्ड में और 'अदि-दशम' में अंकित बाल-लीलाओं में कृष्ण के बाल-वर्णन तो हुए हैं पर उनमे भी सर्वत्र अलौकिकता आरोपित है। वियोग वात्सल्य की अभिव्यक्ति निम्नाकित बरगीत में देखी जा सकती है-

हरिक बयन हेरि माइ।
फोकारे निश्वास नीर नयन झुराइ।।
आजु जननी सुत चल परदेश।
कतनो लिहिल बिहि अभागीक क्लेश।
बिने तुहु रहब जीवन नाहि मोइ।
कह शंकर कृष्ण बोल सब लोइ।[165]

तुलसीदास की रचनाओं मे भी बालक राम के वर्णन से सम्बन्धित जो अश हैं वे भी शुद्ध वात्सल्य के उदाहरण होते होते रह गये हैं। तुलसी रचित 'श्रीकृष्ण गीतावली' के निम्नांकित पद को वात्सल्य भक्ति के उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है-

'छोटी मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै तू दै री मैया !'
'लै कन्हैया !' 'सो कब ?' 'अबहिं तात।'
तुलसी निरखि हरषत बरषत फूल, भूरिभागी
ब्रजबासी विबुध सिद्ध सिहात [166]

(5) मधुरा भक्ति : लोक में जो शृंगार भाव से विदित और विहित है वही भक्ति में माधुर्य के रूप में मान्य है। यही शृंगार-प्रेम की भक्ति है। आलोच्य दोनो कवियों ने यद्यपि सप्रेम भक्ति का माहात्म्य विस्तार से वर्णित किया है,[167] तथापि दोनो मे मधुरा भक्ति के उदाहरण नहीं मिलते हैं। विप्र-पत्नियों की सप्रेमा-भक्ति से प्रसन्न हो श्रीकृष्ण कह उठते हैं- 'महाविवेकी जारा सब, तारा सब हामाक निष्कामे भजय।' 'तोरा सबर प्रेम-भक्ति हामाक वश्य कयल।'[168] तुलसी कामना करते है-

कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम।[169]

किन्तु यह आग्रह एक दास का एक स्वामी के लिए है, पति का पत्नी के लिए नहीं। तुलसी की रचनाओं में शृंगार रस के उत्तम उदाहरण तो मिलते हैं, पर मधुरा भक्ति के प्राय नहीं। 'कवितावली' में वर्णित रामवन-गमन प्रसंग मे वन-मार्ग मे राम को देखकर ग्राम-वधुओं के मन में उठी भावनाओं के अंकन मधुरता से ओत-प्रोत तो हैं,[170] पर वे मधुरा भक्ति के उदाहरण कहे जा सकते।

नारद भक्ति सूत्र में प्रेमा भक्ति की ग्यारह आसक्तियाँ मानी गयी है- गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति, कातासक्ति और परम विरहासक्ति। इन एकादश आसक्तियों के उदाहरण शंकरदेव और तुलसी की रचनाओं में पाये तो जाते हैं, पर दोनों का ध्यान मूलतः गुणमाहात्म्यासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति और आत्मनिवेदनासक्ति पर ही अधिक टिका है।

भक्ति के अधिकारी

भक्ति किसी जाति विशेष या व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नहीं। वह सभी प्राणियो के लिए है।[171] शंकरदेव और तुलसीदास ने 'गीता' और नारद भक्तिसूत्र के अनुरूप भक्त के सर्वजन अधिकारीत्व की घोषणा की है। यथा-

शकरदेव : चाण्डालो हरि नाम लवे मात्र।
करिबे उचित यज्ञर पात्र।[172]

तुलसीदास : राम भगति जिन्ह कें उर नाहीं।
कबहुँ न तात कहिअ तिन्ह पाहीं।[173]

शंकरदेव ने असम की तत्कालीन विभिन्न जातियों में से कुछ का परिगणन करते हुए कहा है कि किरात, कछारी, खासी, गारो, मिरि, यवन, कंक, ग्वाल, तुर्क, म्लेछ, चाण्डाल इत्यादि सब प्रकार के लोग कृष्ण की भक्ति से पवित्रता लाभ कर सकते हैं[174] यहा तक कि ब्राह्मण हन्ता गुरु-हन्ता पितृ मातृ हन्ता आदि भी

भगवान का कीर्तन कर सकते हैं।[175] यक्ष, वृक्ष, पशु-पक्षी पालक, स्त्री, शूद्र, अन्यजन अधम, चाण्डाल आदि भी भक्तों की संगति लाभ कर श्रीकृष्ण की शरणागति पा सकते हैं।[176] स्पष्ट है कि शंकरदेव ने भक्ति को सर्वजन सुलभ स्वीकार किया है।

तुलसी ने भक्ति के अधिकारी अर्थात् पात्रत्व पर विधि-निषेध पद्धतियो से विचार किया है :

राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कें संत संगति अति प्यारी।
गुर पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई।
ता कहँ यह बिशेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई।[177]

'उत्तरकाण्ड' मे उन्होंने भक्ति के अनाधिकारियों की चर्चा की है।[178] भक्ति का अधिकारी शठ या दुराग्रही व्यक्ति नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि शकरदेव और तुलसीदास दोनों भक्ति के सर्वजन अधिकारीत्व की बात समान रूप से स्वीकृत है।

भक्त

भजनीय का भजन करनेवाले को भक्त कहा जाता है। उसके लिए आवश्यक है कि वह 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'- अपने को भगवान के चरणों पर उत्सर्ग कर दे। शकरदेव और तुलसीदास दोनों को वही मान्य है। शंकरदेव के मन मे 'भक्तताशरण' का व्यापक अर्थ भक्तों की संगति अथवा सत्संगति से भी है। 'भक्ति रत्नाकर' के तीसरे माहात्म्य[179] में उन्होंने सत्संग और भक्त के माहात्म्य पर विचार करते हुए कहा है कि तीर्थ-भ्रमण, मूर्ति-पूजा, योग-सांख्य इत्यादि की अपेक्षा भक्तों की संगति चित्तशुद्धि के लिए अधिक उपयोगी है। इसीलिए उन्होंने देव-दर्शन की अपेक्षा संतो के दर्शन को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। क्योंकि देव स्वकार्य साधन में तत्पर रहते हैं, पर संत जन परमार्थ साधन में- 'देवा: स्वकार्य्य-साधनपरा: साधवस्तु परानुग्रहपरा: परमार्थश्च।'[180]

तुलसीदास के शब्दों में सच्चे भगवत् भक्त के लक्षण निम्नांकित हैं :

भौंह- कमान सँधान सुठान जे नारि-बिलोकनि-बान तें बाँचें।
कोप-कृसानु गुमान अवाँ घट-ज्यों जिनके मन आँच न आँचे।
लोभ सबै नट के बस है कपि-ज्यों जग में बहु नाच न नाचे।
नीके हैं साधु सबै तुलसी, पै तेई रघुबीर के सेवक साँचे।।[181]

अन्यत्र भी उन्होंने राम के माध्यम से कहलवाया है :

बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई।।
बैर न बिग्रह आस न त्रासा सुखमय ताहि सदा सब आसा

अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी।।
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा।।
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई।।[182]

उपरि विवेचन से स्पष्ट है कि शंकरदेव और तुलसी ने भक्तों के लिए जो क्षण निर्धारित किये हैं वे प्रायः एक समान हैं। दोनो के अनुसार भक्तो में लोभ, ाग, द्वेष आदि नहीं होता।[183] वे न तो विषय में लिप्त होते हैं और न उन्हें धन ा लोभ होता है,[184] सभी प्राणियों में वे एक ही आत्मा के दर्शन करते हैं।[185]

शंकरदेव और तुलसी दोनों ने भक्तों की कोटियाँ भी निर्धारित की हैं। ाकरदेव ने भक्तों के चार प्रकार माने है- उत्तम, मध्यम, प्राकृत और आचारभ्रष्ट। न्होने विभिन्न शास्त्रों के प्रमाण पर 'भक्ति-रत्नाकर'[186] में इनका स्वतंत्र निरूपण ो किया है। अन्य रचनाओं में भी उनकी एतद्विषयक व्याख्याएँ मिलती हैं। यथा-

(क) उत्तम भक्त : ईश्वरत देखे यिटो समस्ते प्राणीक।
प्राणी समस्ततो देखे ईश्वर मूर्तिक।।
समस्ते ऐश्वर्य ब्यापि आछे जगतत।
हेन यिटो देखे सिटो महाभागवत्।।[187]

(ख) मध्यम भक्त :

एकान्ते करय प्रेम यिटो ईश्वरत। मैत्रिक आचरे हरि भकत सबत।।
अज्ञक करुणा क्षमा करे बिपक्षत। सेहि जन जानिबा मध्यम भकत।।[188]

(ग) प्राकृत भक्त :

नुपूजे भक्तक मान्य न करे प्राणीक। एके प्रतिमात मात्र आराधे हरिक।।
सेहि जन जानिबाहा प्राकृत भकत। आरुढ हैयाछे तेहों भक्तिर पथत।।[18(]

(घ) आचारभ्रष्ट भक्त :

बोलन्त केशवे सुना इहार उत्तर। हौक नर यद्यपि परम दुराचार।।
मोके मात्र भजोक नुपूजि देव आन। तथापि परमसाधु सेहि मोर प्राण।।[19(]

कतिपय स्थलों पर उन्होंने प्रधान भक्त,[191] उत्तम भागवत[192] महाभागवत,[19] ध्यम भागवत[194] जैसी अभिधाएँ भी प्रयुक्त की हैं, किन्तु वस्तुत. ये सभी उपरि वेवेचित चार भक्त-कोटियों के अंतर्गत ही गणनीय हैं।

तुलसी ने गीता[195] के अनुरूप ही भक्तों की चार कोटियाँ- ज्ञानी, जिज्ञासु, र्थार्थी और आर्त- मानी हैं : 'राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ .नघ उदारा[196] इन चारो प्रकार के भक्तो के स्वरूप की अभिव्यजना निम्नांकित रूप में रखी गयी है

(क) ज्ञानी भक्त :

नाम जीहँ जप जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपच बियोगी।।
ब्रह्मसुखहि अनुभवहि अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा।।[197]

(ख) जिज्ञासु भक्त :

जाना चहहि गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहि तेऊ।।[198]

(ग) अर्थार्थी भक्त :

साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ।।[199]

(घ) आर्त भक्त :

जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी।।[200]

स्पष्ट है कि शकरदेव और तुलसी दोनों ने जितना ईश्वर को महत्त्व दिया है, ईश्वर के भक्तों को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण घोषित किया है. बल्कि तुलसी भक्त की महिमा का वर्णन करते समय अतिरिक्त भावावेश से युक्त दिखाई देते है।[201] शकरदेव में ऐसे भावावेश का प्राय: अभाव है।

शंकरदेव ने 'पाखण्ड-मर्दन' में भक्ति विषयक चार अपराधों- नामापराध देवापराध, गुरुपराध और भक्तापराध का सैद्धान्तिक कथन किया है। भक्तो के विपरीत किये जानेवाले तीन प्रकार के अपराध मान्य हैं- भक्तों की सम्पत्ति आदि जबर्दस्ती छीनना, भक्तो की निन्दा करना, भक्तों पर प्रहार करना। इन अपराधो से मुक्ति तभी संभव है जब उसके लिए भक्त से क्षमादान प्राप्त कर लिया जाय।[202]

तुलसीदास ने भक्तापराध का सैद्धातिक निरूपण नहीं किया है। किन्तु शकरदेव के 'पाखण्ड मर्दन' के समतुल्य वजन पर ही भक्तो के विपरीत बुद्धिवाले व्यक्तियों को 'खल' अथवा 'असंत' घोषित किया है एवं उनके लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।[203]

आदर्श भक्ति भाव

शंकरदेव और तुलसी दोनों ने भक्ति का विविध कोणों से विस्तारपूर्वक विवेचन एवं निरूपण किया है। दोनों ने भक्ति के क्षेत्र में आराध्य देव के प्रति अनन्य निष्ठा को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। अनन्य निष्ठा को प्रतिपादित करने की दृष्टि से ही शंकरदेव ने यह मत स्थिर किया कि-

अन्य देव देवी नकरिबा सेब, नखाइबा प्रसाद तार।
मूर्तिको नचाइबा गृहो नपशिबा, भक्ति हैब व्यभिचार।।
एक कृष्ण देव करियोक सेव, धरियो ताहान नाम।
कृष्ण दास हुया प्रसाद भुंजिया हस्ते करा तान काम[204]

तुलसीदास ने भी अनन्य निष्ठा पर बहुत अधिक बल दिया है। उनके सम्बन्ध में ऐसी लोकप्रसिद्धि है कि उन्होंने मुरलीधारी श्रीकृष्ण के विग्रह के आगे हठ किया था- **'तुलसी मस्तक तब नवे, धनुष बाण लो हाथ।'**

आराध्य देव के नाम, रूप, गुण, यश, लीला और धाम के श्रवण-कीर्तन-स्मरण आदि पर दोनों ने समान रूप से बल दिया है। दोनों की आदर्शभक्ति दास्य भाव की ही है। स्वामी-सेवक सम्बन्ध के प्रति अखण्ड निष्ठा और अटूट विश्वास वे पुन.-पुन: उद्घोष करते चलते हैं-

शंकरदेव : तोम्हार अकाम भृत्य आमि। तुमियो निष्काम मोर स्वामी।।[205]

तुलसीदास : सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।

भजहु राम पद पंकज अरु सिद्वान्त बिचारी।।[206]

निष्कर्ष भक्ति प्रवृत्तिमार्गी है। यह प्रेम का धर्म है। शंकरदेव और तुलसीदास का यथार्थ व्यक्तित्व शुद्ध भक्त रूप मे ही निखरा है। दोनों के लिए भक्ति-भावना न तो केवल परम्परा पालन है और न जीवनगत नैराश्य की आश्रयदात्री। वह दोनों के जीवन का अविच्छिन्न अंग हैं। भगवान के ऐश्वर्य रूप से दोनो प्रभावित है, पर शंकरदेव की कृतियो मे इस रूप के अंकन पर अधिक बल दिया गया है। इसके विपरीत भगवान के शील, शक्ति और सौन्दर्य के समन्वित रूप का जैसा अकन तुलसी में प्राप्त होता है, वैसा शंकरदेव में नहीं।

शंकरदेव के आराध्यदेव कृष्ण हैं, पर वे रसिकबिहारी कृष्ण नहीं हैं। वे देवकी तनय के रूप में वर्णित होकर भी अद्वैत निर्गुण हैं। वे राधा-कृष्ण अथवा रुक्मिणी-कृष्ण भी नहीं, केवल कृष्ण है। राधा, रुक्मिणी अथवा उद्धव भी कृष्ण के वैसे ही भक्त हैं जैसे 'कृष्ण-किकर' शंकरदेव। इसके विपरीत तुलसी के राम निर्गुण निराकार होकर भी दशरथ सुत हैं- 'मंगल भवन अमंगल हारी' और 'लीला नरतनुधारी' हैं। सीता उनकी माया- 'जगदीश माया जानकी' हैं, अत: जगत्-जननी हैं।

भक्ति के भेद और स्तर दोनों को मान्य हैं। भक्ति के साधना-क्रम एव उसके अनुरूप भक्तों की कोटियॉ भी दोनों को मान्य हैं। किन्तु दोनों की रुचि भक्ति के सहज रूप-नाम स्मरण में ही अधिक रमी है। आराध्यदेव के नाम और यश का श्रवण-कीर्तन-स्मरण दोनों को काम्य है। दास्य भाव की भक्ति ही दोनों को मान्य है।

स्वरूप-सेवा शकरदेव को अस्वीकृत तो है किन्तु निषिद्ध नहीं है। तुलसी की दृष्टि मे निर्गुणोपासना और स्वरूप सेवा मे अन्तर नहीं है के सगुण

स्वरूप को समझने की दुष्करता को मानने के बावजूद तुलसी द्वारा सगुणोपासना पर बल देना, युगधर्मानुकूल राष्ट्रीय आवश्यकता थी। शंकरदेव एवं तुलसीदास दोनों ने भगवान की शरणागति प्राप्त करने को ही भक्ति का मूल आदर्श और लक्ष्य माना है।

संदर्भ :-

1. (क) ईश्वर में परमानुरशक्ति।- शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, 2
   (ख) ईश्वर के प्रति परम प्रेम।- नारद भक्तिसूत्र, 2
   (ग) पूज्यजनों के प्रति अनुराग- देवी भागवत, 7/31
   (घ) विष्णु-पुराण, 1/20/20
   (ङ) रामानुज- विशिष्टाद्वैत कोश (विदांतदेशिका), पृ 184
   (च) रामानन्द- वैष्णव मताब्यभाष्कर, 65
   (छ) तत्वदीप निबंध (शास्त्रार्थ प्रकरण), 46
   (ज) श्रीमद्भागवत, 3/25/32-33
   (झ) गीता, 9/13-14
   (ञ) 'श्रद्धामिश्रित प्रेम'-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'चितामणि' (भा 1)पृ 32
2. दोहा 60
3. भाग 10/265 (कुरुक्षेत्र)
4. कीर्तन 523
5. मानस 7/34
6. वही 7/130
7. डॉ. मागध, शंकरदेव . साहित्यकार और विचारक, पृ 156
8. कीर्तन 1673
9. वही
10. वही 210
11 जाहे भकति ताहे मुकुति-बर 10
12. भकति बिहीन ज्ञान कर्म सबे व्यर्थ, भाग 1/837
13. कृष्ण भक्तित मात्र ज्ञान उपजय, भाग, 2/1411
14. सामर्थ भकतित आति एकोवे नचावे।
    भकतक पालय पुत्रक येन भावे।। भाग. 11/158
15. ज्ञानतो नाहिके काज, केवल भकति तरे लोक। भाग 11/200
16 केशव नेसेवि जो जीवय छोट कीट उपमा। बर. 12
17. कीर्तन 202
18. वही 139

1) भाग 12/271
20 वही 12/278
21 वही 10/2178
22 मानस 3/15/1
23 वही 1/112/3
24 वही 7/44/3
25 वही 3/15/2
26 वही 2/15/2
27 वही 7/14/3
28 वही 7/78
29 मानस 7/84
30 वही 1/26/1
31 वही 7/48/2
32 भाग. 11/158
33 मानस 7/113/8
34 कीर्तन 1673, मानस 7/84 (क)
35 वही 137, भ.र. 15 (मा), कविता 7/55
36 भ प्र 22
37 मानस 7/114/5
38 भ. प्र. 33; वि. प. 173
39 कीर्तन 119, वै स 38
40 नि.न.स. 7
41 मानस 7/118/4
42 भाग. 1/949
43 भ. प्र. 130
44 वही 134
45 बर 9, कीर्तन 381
46 बर 10
47 मानस 7/44/1
48 वि.प. 136/10
49 मानस 7/44/2
50 कीर्तन 379
51 मानस 7/45/1
52 (क) हरि भक्ति राज-मार्गे गुरु-पद-नख-चन्द्र-प्रकाशित,
श्रुति जननीर पद पंथ अनुसरि।
फुरो हुआ आमि आनन्दित स्खलन नाहिके कदाचित

महाजनसब जानिबा निश्चय करि।। (नामघोषा

(ख) बहु मत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो।।
(वि प]

53. कीर्तन 130; भाग. 10/686
54 दोहा 78
55 मानस 3/15-16
56. जानइ ब्रह्म सो विप्रबर, मानस 7/99 (ख)
57. मानस 3/15/4
58. वही 3/34-36
59 वही 3/10/22-27
60. ब्रह्मसूत्र, 2/1/11
61. कठोपनिषद्, 1/2/9
62. भाग 2/381
63. वही 11/250
64. मानस 7/90 (ख)
65. भाग 10/494
66. मानस 1/126/3
67. वही 5/23
68. भाग 10/1297
69. बर 5
70. वही 16
71. मानस 5/38
72. आशा नामे नदी घोर जल महाधन।
नाना बिध तृष्णा आत ढोउ सर्बक्षण।।
काम क्रोध भैल आत कुंभीर मगर।
नाना तर्क बितर्के गहन भयंकर।। भाग 10/336
73 ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड। मानस 7/71 (क)
74. नारदसूत्र, 43
75. मानस 2/23/4
76. कीर्तन 96; भाग 10/963
77. भाग. 11/165, 168
78. भ. प्र. 300; भाग. 11/233-261
79. भाग 11/241, 247
80. वही 11/254
81 वही 11/250

82 जे सकाम नर सुनहि जे गावहि, सुख सपति नाना बिधि पावहि।।
मानस 7/14/2

83 स्वारथ-परमारथ रहित सीताराम-सनेह। दोहा 60

84 मानस 1/22, 3/16

85 भाग. 1/2/6

86 मानस 7/121/7

87 वही 3/12/6

88 वही 3/11/3

89 वही 4/10/3

90 वही 4/24/4

91 चैतन्य चरणामृत 2/19/165

92 भाग. 11/233-34

93 वही 11/165-67

94 नि.न.स. 71, दोहा 60

95 दोहा 279

96 वही 316

97 दोहा 317

98 वही 313, 315

99 वही 314

100 वही 308

101 वि प 178

102 मानस 7/34

103 वही 7/48/3

104 नि न स 73

105 कीर्तन 341

106 भक्तिरत्नाकर, माहात्म्य 6, 9

107 मानस 3/34/4-35/3

108 भाग 10/564

109 मानस 1/25

110 वही 1/26, वि प 67

पुन.

(क) महा यज्ञ दान जप तप तीर्थ व्रत।
परम रहस्य धर्म याग योग यत।।
अश्वमेध राजसूय सुकृति पर्यन्ते।
समन्ते उपजे कृष्ण कृष्ण
कृष्णनामे ध्यान महा जप

कृष्णनामे योग कृष्ण नामे महातप।। भ. प्र. 285,86

(ख) देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना।।
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें।।
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें।।
मानस 1/20/2-3

111. भ प्र. 167
112. मानस 1/27/1
113. यद्यपि भकति नवबिध माधवर।
श्रवण-कीर्तन तातो महा श्रेष्ठतर।। भाग 1/834
114. चारि पुरुषार्थ काम क्रोध धर्म अर्थ।
श्रवणते समस्त मिलावे मनोरथ।। भाग. 10/3 (कुरुक्षेत्र)
115. मानस 2/127/2-3
116. ब्रह्मा हर पुरन्दरे रात्रि दिन बांछा करे, तोम्हारेसे चरण धूलाक।
रु. ह का 102
117. कीर्तन 2179, 2201
118. रु.ह.का. 265
119. मानस 2/101
120. वही 6/10/4
121. वही 2/128/1
122 मानस 2/134/1-3
123. वही 1/111/2
124. वही 1/112/2
125 भाग 10/363, (कुरुक्षेत्र), वि प 56
126. भूमिक भार हरण निमित्त अवतार हये थिक। का द.ना
127. भाग. 10/363 (कुरुक्षेत्र)
128. डॉ. देवीशंकर अवस्थी- अठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमा-भक्ति, पृष्ठ 96
129. गीता 18/54
130. भाग. 11/19/36
131. बर 6
132. वि.प. 201
133. कीर्तन 452
134. बर 29
135. वि.प. 76
136. वि.प. (सं. वियोगी हरि), परिचय, पृष्ठ 7
137 बर 5
138 वि प 179

139 बर 6
140 वि.प 94
141 बर 11
142 वि.प 189
143 बर 14
144 वि.प 90
145 बर 29
146 वि.प. 166
147 बर 3
148 वि प. 172
149 बर 4
150 वि प 111
151 बर 19
152 वि.प. 66
153 बर 9
154 वि.प 174
155 बर 8
156 वि.प 155
157 बर 16
158 वि.प. 206
159 बर 10
160 वि.प 187
161 बर 18
162 वि प 76
163 डॉ मागध, शंकरदेव : साहित्यकार और विचारक, पृ. 194
164 कृ.गी 19
165 बर 30
166 कृ.गी 2
167 भाग 11/163, 10/980; भ प्र 282; मानस 7/34, 7/48/3
168 प प्र ना.
169 मानस 7/130 (ख)
170 कविता 2/22-25
171 (क) मा हि पार्थ व्यपाश्रित्य येहपि स्यु पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेहपि यान्ति परां गतिम्।।
किं पुनर्ब्राह्मणा· पुण्या· भक्ता राजर्षयस्तथा।। गीता, 9/32-3
(ख) नास्ति तेषु जातिविद्या-रूप-कुल-धर्म-क्रियादि भेद।
नारदभक्ति सूत्र 7

172 कीर्तन 119
173. मानस 7/112/7
174. भाग. 2/1270-71
175. कीर्तन 118
176 भाग. 11/77
177. मानस 7/127/3-4
178 वही 7/112-13
179. भ र. 3/3, 4-14
180. वही 3/9
181. कविता 7/116
182. मानस 7/45/2-4
183. नि न.सि 88, दोहा 93, 94, कविता 7/118, मानस 2/129/1
184. नि न.सि. 90, मानस 7/37/1
185. वही, मानस 3/45/4
186. भ र. माहात्म्य 16, 17, 18, 19
187. नि.न सि 80
188 वही 81
189. वही 82
190. भ. प्र. 33
191. नि न सि. 93
192. वही 85
193. वही 80
194. वही 81
195. गीता 7/6
196. मानस 1/21/3
197. वही 1/21/1
198. वही 1/21/2
199. वही
200. वही 1/21/3
201. आपु आपने तें अधिक जोहि प्रिय सीताराम।
तेहि के पग की पानहीं तुलसी-तनु को चाम।। दोहावली 59
202. भागवत मिश्र- सात्वत तंत्र
203. मानस 7/38/1-2
204. भाग. 2/1341-42
205. कीर्तन 452
206. मानस 7/119 (ख)

* * *

चतुर्थ अध्याय

धार्मिक विचारधारा

भारतीय धर्म-साधना में वेदों को धर्म का मूल और वेदविहित कर्मों को धर्म कहा है[1]। महर्षि कणाद ने उन सभी कार्यों को धर्म के अन्तर्गत परिगणित किया है जिनकी साधना से अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि होती है- यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिःस धर्मः। भारतीय धार्मिक साधना और सास्कृतिक विकास के इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट है कि विभिन्न कालखण्डों मे अनेक मनीषियों ने मानव के अभ्युदय और नि.श्रेयस की सिद्धि के निमित्त युगानुरूप मार्ग दिखाये हैं। मध्ययुग में शंकरदेव और तुलसीदास ने भी युगीन परिवेश और परिस्थिति के अनुरूप भारतीय धार्मिक जीवन को संस्कारित कर नवीन गति प्रदान की थी।

तत्युगीन ह्रासोन्मुखी धार्मिक चेतना

शंकरदेव और तुलसीदास दोनों ने तत्युगीन समाज में व्याप्त विभिन्न धार्मिक मान्यताओं को गहराई से देखा-परखा था। समकालीन जीवन और समाज में जो धार्मिक त्रुटियाँ उन्हें दिखायी पड़ती थी, उन्हें वे 'कलिकाल'[2] का परिणाम मानते थे। कलिकाल में मानव आचारहीन[3] हो गये थे जिसके फलस्वरूप धार्मिक जीवन मे अनेकानेक विसंगतियाँ दिखाई पड़ने लगी थीं। उन विसंगतियों का निर्देश दोनों ने विशद रूप में किया है और उन्हें समाज के लिए घातक बताया है। शंकरदेव और तुलसी दोनो ने क्रमश. कृष्ण और राम को आदर्श मानकर भागवत तथा रामायण के मूल्यों के आधार पर धार्मिक जीवन के संस्कारक की भूमिका एवं दायित्व का निर्वाह भी किया।

(क) वैदिक कर्मकाण्ड : भारतीय जीवन की शृंखला वैदिक परम्परानुसार है। धार्मिक जीवन भी वेद-वाह्य नहीं है। शकरदेव और तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म के ह्रास और धार्मिक विसगति को कलिकाल[4] का परिणाम मान अनेक स्थलो पर [illegible] किया है

तुलसीदास : आस्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-बेद-मरजाद गई है।[6]

(ख) तीर्थ-व्रतादि : भारतवर्ष में धार्मिक पद्धति में तीर्थ-व्रतादि का अत्यन्त महत्त्व है। किन्तु मध्यकालीन लोग बहुत धन खर्च कर एवं कष्ट झेलकर तीर्थ-व्रतादि करते थे। धर्म के नाम पर तीर्थ-व्रतादि व्ययबहुल-आड़म्बर भोली-भाली जनता के शोषण का एक प्रकार से माध्यम बन गया था। शंकरदेव और तुलसी दोनों ने तीर्थ-व्रतादि के बहाने पनपते धार्मिक अंधविश्वास और धार्मिक आडम्बर पर तीव्र प्रहार किया है। यथा-

शंकरदेव : शरीरसबक मइ बोलै चित्ते।
ममता करै पुत्र भार्या बित्ते।।
तीर्थ बुलि करै जलत शुद्धि।
प्रतिमात करै देवता बुद्धि।।
वैष्णवत नाहि इसब मति।
गरुलो अधम कृष्ण बदति।।[7]

तुलसीदास : सुर सदननि, तीरथ, पुरिन निपट कुचालि कुसाज।
मनहुँ मवासे मारि कलि राजत सहित समाज।।[8]

(ग) तांत्रिक आचार : आलोच्य कवियों के समय धार्मिक-प्रक्रियाओ मे तांत्रिक-आचार का भी प्रभाव बढ़ गया था। इससे धर्म के नाम पर तरह-तरह की अनैतिकता पनप रही थी। शंकरदेव और तुलसी दोनों की दृष्टि उस ओर गयी है। पंचमकार युक्त वामाचारिता को धर्म के प्रतिरूप व पर्याय मानने वालों की निन्दा दोनों ने की है। यथा-

शंकरदेव : स्त्री मद्य मांस सेवा जि शास्त्रत कहि आछे
ताक लैया बाद करि मरे।
महामूर्ख सिटो सब ईश्वरक नमजिया
पचिबेक नरक भितरे।।[9]

तुलसीदास : कलि पाषंड प्रचार, प्रबल पाप पॉवर पतित।[10]

(घ) धर्माड़म्बर : शंकरदेव और तुलसीकालीन समाज में भी धर्म के नाम पर पाखण्डियों की बाढ़ आ गयी थी। कुछ लोग शास्त्र-ज्ञान को ही धर्म के लिए सब कुछ मानने लगे थे। संन्यासी का वेश बना लेना, शास्त्र के छन्दो को रट लेना मात्र धर्म-पालन माना जाता था। तेली, कुम्हार, चाण्डाल आदि भी स्त्री के निधन होने पर अथवा घर की सम्पत्ति खत्म होने पर सन्यासी का वेश धारण कर लेते थे[11] काम क्रोध लोभ आदि के प्रति आसक्त लोग धर्म के प्रबल प्रवक्ता बन गये थे[12]

धर्म के नाम पर ढोंग से आचार-पद्धति कलुषित होने लगी थी। तुलसी कहते हैं कि जो कपट रूपी लोहे की हजारों सुइयों को वचन रूपी ऊपर के कपड़े (बेठन) मे चतुराई से बांधकर छिपाना चाहते हैं, वे दुष्ट हैं।[13]

उस समय सर्वत्र पाषंड का बोलबाला हो गया था। शंकरदेव और तुलसी दोनों की दृष्टि इस ओर गयी है। यथा-

शंकरदेव : कलित यतेक द्विज एरिबे आचार।
कपटे देखाइबे मात्र लोक-व्यवहार।।
लोभे आक्रमिबे हैबे कुल-क्रिया-हीन।
एके नवगुण मात्र थाकिबेक चिन।।[14]

तुलसीदास : भेष सुबनाइ सुचि बचन कहैं चुवाइ,
जाइ तौ न जरनि धरनि-धन-धाम की।
कोटिक उपाय करि लालि पालियत देह,
मुख कहियत गति राम ही के नाम की।।
प्रगटैं उपासना, दुरावैं दुरबासनाहि,
मानस निवास-भूमि लोभ-मोह-काम की।
राग-रोष-ईरिषा- कपट - कुटिलाई भरे
तुलसी-से भगत भगति चहैं राम की।।[15]

ब्राह्मण और संन्यासी अपने को स्वयंभू मानने लगे थे।[16] अर्थ-प्राप्ति के लिए तथाकथित धार्मिक-व्यक्ति ब्राह्मण एवं गुरु की हत्या करने में नहीं हिचकते थे।[17] मोहवश पाखण्ड आचार करने में धर्माचार्य भी नहीं कतराते थे।[18] धनवान व्यक्ति शठ और दांभिक होने पर भी धार्मिक कहलाने लगे थे।[19] उसके विपरीत सच्चे साधुओं एवं धार्मिक व्यक्तियों को कष्ट दिया जाता था।[20] नैतिकता के बजाय उदरपूर्ति ही सर्वस्व हो गया था। यहाँ तक कि माता-पिता भी बालकों को यही सीख देने लगे थे- 'मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहि।।'[21] ऐसी स्थिति में संतों की दुर्गति हो रही थी। इसका संकेत शांकरी साहित्य में भी मिलता है-

सहिबे नपारि पीड़ा पाछे प्रजागण। दशोदिशे जाइबे हुया देशर उछन्न।।[22]

(ङ) पंथ-विरोध : शंकरदेव और तुलसी के समय विभिन्न धार्मिक पंथ-उपपथ पनप रहे थे, जो प्राय. सामान्य जनता को भ्रमित कर रहे थे। तुलसी ने उन पथो की व्यर्थता एव पंथ-प्रचारकों के 'विमोह' पर चिन्ता प्रकट की है-

सुति-सम्मत हरिभगति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पथ अनेक[23]

नवीन पथो द्वारा प्राचीन शास्त्र ग्रन्थो की अवहेलना किये जाते देख तुलसी क हृदय कचोट उठता था

सकल धरम बिपरीत कलि, कल्पित कोटि कुपंथ।
पुन्य पराय पहार बन, दुरे पुरान सुभग्रंथ।।[24]

स्थिति इतनी भयावह हो गयी थी कि सारी व्यवस्था चरमरा गयी थी-

बादहिं सूद्र द्विजन सन 'हम तुम तें कछु घाटि ?
जानहिं ब्रह्म सो बिप्रवर' आँखि दिखावहि डांटि।।[25]

उस समय खोखला ब्रह्मज्ञान इतना बढ़ गया था कि-

ब्रह्मज्ञान बिनु नारि-नर कहहिं न दूसरि बात।[26]

और ऐसे भी मुनि, सन्यासी, धर्माचार्य इत्यादि थे-

जे मुनि ते पुनि आपुहि आप को ईस कहावत सिद्ध सयाने।[27]

अतः, संभवत. वैसे ही 'सयाने' लोगों को लक्ष्य कर तुलसी ने कहा होगा-
जानपनी को गुमान बडो, तुलसी के विचार गॅवार महा है।

विभिन्न पंथों के जो कुपरिणाम समाज पर पड़ रहे थे, तुलसी ने न केवल उसे लक्ष्य किया था, बल्कि अनेक पंथो और प्रचारको की ओर उन्होंने खीझ भरी दृष्टि भी दौड़ायी थी। उनसे लोगों को सावधान भी किया था। यथा-

(क) कबीर पथियो एवं सूफियों के प्रति-

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निंदहिं बेद पुरान।।[28]

(ख) अलखिया-पंथ के प्रति-

हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि ? राम नाम जप नीच।[29]

(ग) गोरख पंथ के प्रति-

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते सो केलि ही छरो सो है।[30]

(घ) जैन पंथ के प्रति-

स्वान सरावग के कहे, लघुता लहै न गग।[31]

(ङ) सेवड़ा (बौद्ध श्रमण) के प्रति-

सुरा सेवरा आदरहिं, निंदहिं सुरसरि-बारि।[32]

इसी प्रकार उन्होंने पथभ्रष्ट अघोरी साधकों,[33] श्मशान-साधकों,[34] भूत-प्रेत-पूजा के प्रचारकों[35] वाममार्गी शाक्तों[36] इत्यादि पर भी छींटे कसे हैं।

तुलसीदास जी की तरह ही शकरदेव की दृष्टि भी विभिन्न पथो पर गयी है उन्होंने बुद्ध अवतार को 'वामानय' का प्रचार करनेवाला घोषित कर उनकी अवहेलना की है-

(क) आत अनन्तरे हैव बुद्ध अवतार। अनेक पाषण्ड शास्त्र करिब प्रचार।।
बेद पथ एरि यज्ञ करिब असुर। बादे बिमोहिया करिवत यज्ञ दूर।।[37]

(ख) बोध अवतारे बेद-पंथ करि छन्न। बामानय शास्त्रे मुहि आछा सर्वजन।[38]

इसी प्रकार अन्य पंथों (कबीर पंथी ?) के सम्बन्ध में उनकी मान्यता है ·

उरेषा बाराणसी ठावे ठावे। कबिर गीत शिष्टसबे गावे।।
तथापितो आखि फुटिल तार। हरि कीर्त्तनक करै धिक्कार।।[39]

कलि-धर्म के निरूपण में भी उनका इस ओर ध्यान गया है-

(i) बेद बिधि बिमुख हैबेक दिने दिने। नहैब धर्मत मति अधर्मत बिने।[40]

(ii) ब्राह्मण क्षत्रिय बैश्य इटो तिनि जाति। नुशुनिबे हरि भकतिक काण पाति।[41]

(iii) पाषण्डर मुखत शिखिबे धर्म ज्ञान। कलित करिबे पाषण्डक बहुमान।[42]

स्पष्ट है कि आलोच्य कवियों ने तत्युगीन विभिन्न पंथों पर दृष्टि डाली है एव उनके असामाजिक, अनैतिक और आडम्बरपूर्ण कार्यों की ओर ऊँगली भी उठायी है। यह और बात है कि शंकरदेव की अपेक्षा तुलसी की दृष्टि उपपथों की ओर अधिक गयी है, किन्तु दोनो के उद्देश्य समान है।

आदर्श धार्मिक-जीवन के प्रतिमान

तत्युगीन धार्मिक विशृंखलता एवं धर्म के नाम पर चलाये जानेवाले अनैतिक और असामाजिक कृत्यों को समाप्त कर उनकी जगह एव श्रुति-सम्मत हरिभक्ति-पथ के साथ-साथ सहज मानव धर्म के प्रतिपादन की दृष्टि से आलोच्य कवियों ने न्यी दृष्टि दी। अपनी सहजता-सरलता के कारण वे सामान्य जनजीवन में लोकप्रिय हो सके। आगामी पंक्तियों में एतद्विषयक आवश्यक विचार प्रस्तुत हैं।

(क) युगधर्म : नामधर्म पहले संकेत किया गया है कि शंकरदेव और तुलसीदास ने अपने समय की दुर्गति को कलिकाल जनित बताया है, दोनों कवियो न विभिन्न युगों में पालनीय आचारों का संकेत करते हुए कलियुग के लिए एकमात्र पालनीय आचार बताया-भगवान का नाम-कीर्तन। इसलिए दोनो ने आराध्यदेव के नाम के स्मरण, कीर्त्तन और गायन का बड़े विस्तार से निरूपण किया है। उनके अनुसार-

शंकरदेव : सत्य युगे येन फल पावै ध्यान करि।
महा महा यज्ञे त्रेता युगे यजि हरि।

येन फल पावै पूजा करि द्वापरत।
पावे सबे फल कलियुगे कीर्त्तनत।।[43]

तुलसीदास :

(क) ध्यानु प्रथम जुग मख बिधि दूजें। द्वापर परितोषत प्रभु पूजें।।
कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना।।
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला।।
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता।।
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलम्बन एकू।।[44]

(ख) कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहि भव चाहा।।
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना।।[45]

इस प्रकार कलिकाल का युगधर्म हुआ ईश्वर का नाम-कीर्तन।[46] कलिकाल मे तप-जप, व्रत-पूजा, तीर्थ-दर्शन इत्यादि सब गौण महत्त्व के हैं, केवल सफल और व्यावहारिक आचार है- मनन के साथ भगवान का गुणानुकीर्तन करना।[47] 'नाम' को वेद का सार तथा परम धर्म कहा गया है।[48] कलिकाल के डर से सारे धर्म मात्र 'हरिनाम' में स्थित हो गये हैं। अस्तु, नाम-कीर्तन करने से सारे धर्मों का फल प्राप्त हो जाता है।[49] तुलसी ने तो राम से भी अधिक उनके 'नाम' को श्रेष्ठ कहा है।[50] दोनों कवियों ने भगवान के नाम को ही तप, जप, यज्ञ, योग, ध्यान, पुण्य, कोटि तीर्थस्थान, धन-जन, सुहृद, माता-पिता, त्राण-कर्त्ता के रूप में स्वीकार किया है। यथा-

शंकरदेव : (क) मंत्र तंत्र यज्ञ यत तप तीर्थ कोटि शत
हरिनाम अधिक सबाते।[51]

(ख) नामे तप जप यज्ञ नामे योग ध्यान।
नामे दान पुण्य नामे कोटि तीर्थ स्नान।
नामे धन जन बन्धु नामे पिता माता।
नामे निज सुहृद नामे से गति दाता।।[52]

तुलसीदास : नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु।।[53]

शंकरदेव के अनुसार ब्राह्मण का धन अपहरण, मद्यपान, ब्रह्मवध, गुरुपत्नी गमन, स्त्रीवध, राजवध, पितृवध, गुरुवध, मित्रवध, परहिंसा, विषयों के प्रति असक्ति इत्यादि सारे पापों का प्रायश्चित एक मात्र नाम स्मरण से ही हो सकता है।[54] तुलसी ने गणिका अजामिल व्याध गीध गज आभीर यवन किरात खस श्वपच

(चाण्डाल) आदि के पाप नाशक रूप मे नाम की महिमा का गान किया है।[55]

शंकरदेव के अनुसार नाम-स्मरण से सात कार्य एक ही साथ सम्पन्न होते हैं। यथा-

1 प्रथमे दहिबे पातेकचय।
2. करिबे महा पुण्य अभ्युदय।।
3. कराइबे विषयत बिरकति।
4. कृष्णत बढ़ाइबे प्रेम-भकति।।
5. उपजाइबे महा वैष्णव ज्ञान।
6. मायाको करिबे दहि निर्याण।।
7. चैतन्य मूर्ति पूर्णानन्द हरि।
थैबेक तेते एरे एके करि।।[56]

कलिकाल में मनुष्य की बुद्धि स्थिर नहीं रहती है और दैनन्दिन पाप बढ़ता जाता है, इसलिए सभी साधन में नाम-स्मरण ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार दोनों के अनुसार नाम स्मरण ही कलिकाल में अति सहज धर्म मार्ग है।

तुलसी ने नाम और नामी के सम्मिलित महत्त्व पर विचार करते हुए नामी की अपेक्षा नाम को अधिक महत्त्व दिया है।[57] नाम-स्मरण का महत्त्व इससे भी स्पष्ट है कि वैष्णवभक्ति में नामापराध की भी कल्पना की गयी है। शंकरदेव ने 'कीर्तनघोषा' के नामापराध खण्ड में इसका एकत्र विवेचन किया है।[58] उनके अनुसार नामापराध दस होते हैं-

1 नामस्मरण करनेवाले भक्तों की निन्दा करना,
2. विष्णु और शिव के नामों और ग्रन्थों में भेद करना,
3. वेदों की निन्दा करना,
4 नाम-माहात्म्य में संदेह करना,
5. व्रत-तप-तीर्थ-यज्ञादि को नाम के समान महत्त्व देना,
6. नाम से घृणा करना,
7. नाम-द्रोहियों को समान स्तर अथवा महत्त्व देना,
8. नाम स्मरण में दर्प और घमण्ड करना,
9. धार्मिक दृष्टि से प्रधान व्यक्ति (गुरु इत्यादि) की बातों के प्रति उदासीनता दिखलाना, और
10 अन्य द्वारा नाम-स्मरण किये जाने पर उसकी उपेक्षा करना।

तुलसी ने शकरदेव की भाँति का एकत्र कथन तो नहीं किया है

पर उनकी रचनाओं के अवगाहन से स्पष्ट है कि उपरि गिनाये गये दसो ।पराध उन्हे सिद्धान्ततः मान्य हैं।

(ख) संत-संगति : शकरदेव और तुलसी दोनों ने संत-संगति को अत्यधिक महत्त्व दिया है।[59] संत-संगति मे नित्य हरि-कथा का श्रवण-कीर्तन से भक्तों के मन मे ईश्वर के प्रति भक्ति की बढ़ोत्तरी होती रहती है। संत के मिलन क्षेत्र की तीर्थ-स्थान से तुलना की गयी है और कहीं-कहीं उससे बढ़कर भी बताया गया है।[60] सत के दर्शन मात्र से ही सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, किन्तु देव-तीर्थ के दर्शन से पाप छूटने में अपेक्षया देर होती है।[61]

संत स्वभावतः शांत-स्वभाव के, परोपकारी, सत्यवादी, समभावापन्न, भगवान के अनन्य भक्त और निष्पाप होते हैं।[62] विवेच्य दोनों कवियों ने संतों एवं भक्तों की महिमा का गान किया है। शंकरदेव विष्णु और उनके भक्त (वैष्णव) में कोई अन्तर नहीं करते। उनकी मान्यता है कि देवता हमारे वान्धव है, पर संत आत्मा-

देवता वान्धवाः संतः सत आत्माहमेवच।[63]

तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में सतो के लक्षण विस्तार से वर्णित किये है। 'राम ते अधिक राम कर दासा' की घोषणा कर वस्तुत. तुलसी ने राम भक्त अथवा सत को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। स्पष्ट है दोनों कवियों ने सत्संग को धर्म की व्यावहारिक एवं आचारपरक प्रक्रिया के रूप में मान्यता दी है।

(ग) गुरु : धर्म के क्षेत्र में प्रायः सभी सम्प्रदायों में गुरु का महत्त्व स्वीकृत हुआ है। शंकरदेव और तुलसीदास ने भी धार्मिक जीवन में गुरु को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। वस्तुत. दोनों की दृष्टि में गुरु का स्थान भगवान (आराध्यदेव) तुल्य ही है-

शंकरदेव : 1. उपदेश दाता यिटो गुरु थाके, तान्ते हरि बुलि माने।[64]
2 नमो मधुरिपु राम मोर महागुरु।[65]

तुलसीदास : 1. बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर।[66]
2. बंदउँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
अमिअ मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू।।[67]

शंकरदेव ने 'भक्ति रत्नाकर' के प्रथम माहात्म्य (भक्ति-ज्ञानप्रदगुरुसेवा माहात्म्य) में गुरु की महत्ता का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है एवं विभिन्न शास्त्रो के आधार पर उनका निष्कर्ष है- 'गुरुदेव हरि।' भगवान की भक्ति स्थापित करने के लिए उन्होने गुरु भक्ति को ही प्रथम स्थान दिया है उनकी है कि

विभिन्न धर्मों के पालन करने से भगवान उतने प्रसन्न नहीं होते जितने गुरु शुश्रूषा से- 'इज्या गृहस्थधर्म्मः, प्रजाति ब्रह्मचारिधर्म्म. ताभ्या, तपसा वनस्थधर्म्मेन, उपशमेन सन्नासधर्म्मेन वाहं परमेश्वरो न तथा तुष्टेयं यथा सर्व्व-भूतात्मापि गुरुश्रुषयेति।'[68]

तुलसीदास के मानस के प्रारंभ मे गुरु-पद पद्मपराग का विस्तारपूर्वक महत्त्व कथन किया है। उनका मत है कि गुरु की चरणधूलि भगवान शकर के शरीर मे वेष्टित भस्म के समान पवित्र, हृदय के विकार को दूरकर पवित्र बनानेवाली सर्वप्रकारेण आनन्ददायिनी, ज्ञान-नेत्र की उन्मीलक, भगवान के मर्म को बोधगम्य बनानेवाली, ज्ञानांजन प्रदान कर विमल विवेक उत्पन्न करनेवाली इत्यादि होती है।[69] वस्तुत. तुलसी की यह मान्यता उनकी गुरुभक्ति का चरमोत्कर्ष प्रकट करती है-

1. राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता।।[70]

2. गुर बिनु भव निधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई।।[71]

तुलसी के उक्त कथन सिद्धान्त मात्र नहीं है। उन्होंने गुरुकृपा के प्रभाव से सम्बन्धित उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। भुशुण्डि को पूर्वजन्म की शूद्रदेह मे भगवान शिव के क्रोध से उद्धार किसने किया ? दशरथ के भाग्य मे पुत्र न होने के बावजूद उसें पुत्रवान किसने बनाया ? स्पष्टत. गुरु ने। अत., तुलसी की दृष्टि मे गुरु का महत्त्व अपरिमित और देवतुल्य ही है।

दोनों की विभिन्न रचनाओ के आरभ में रखे गये मंगलाचरणात्मक अशों पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि उन्होंने ईश्वर वन्दना के पश्चात् आवश्यक रूप से गुरु-वन्दना को स्थान दिया है। दोनों ने प्राणिमात्र को गुरु के प्रति अपराधों के सदर्भ मे सचेत भी किया है। तुलसी की मान्यता है-

जे सठ गुर सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं।
त्रिजग जोनि पुनि धरहि शरीरा। अयुत जनम भरि पावहिं पीरा।।[72]

शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित एकाशरणीया मत में गुरु के संम्बन्ध में मान्य अपराध से यह सर्वथा अभिन्न है।

सभवत. तुलसीदास और शकरदेव के समय में विभिन्न पंथों में कुछ ढोगी गुरु भी रहे होंगे। इसीलिए गुरुत्व गरिमा से च्युत गुरुओ की तुलसी ने कटु आलोचना की है-

हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई।।[73]

शकरदेव में ऐसी कोई स्पष्ट उक्ति नहीं मिलती है, पर उनकी उक्ति- 'विशिष्ट गुरुक अकपटे सेवा करि। मानिबे गुरुसे आत्मा देव हरि।।'[74] मे 'विशिष्ट गुरु' शब्द है स्पष्ट है कि वे सभी प्रकार के गुरओ को महत्त्व

नहीं देना चाहते है।

अत., दोनों आलोच्य कवियों के अनुसार गुरु-कृपा के अभाव में न तो भक्ति का मार्ग-दर्शन होता है और न हृदय मे विवेक ही उत्पन्न होता है। सारांशतः गुरु का स्थान धर्ममय जीवन का प्राणतत्व है।

(घ) धर्माड़म्बर का त्याग : शंकरदेव और तुलसीदास दोनों ने धर्म के नाम पर उस समय प्रचलित योग, जप, तप, तीर्थ, व्रत, ज्ञान, वैराग्य इत्यादि भक्ति-साधनों के नाम पर व्याप्त आड़म्बरों को त्यागने की सलाह दी है।[75] दोनों ने मूलतः ईश्वर भक्ति को ही सर्वस्व स्वीकार किया है। उनके अनुसार भक्ति के अभाव में शास्त्रों का अध्ययन, चतुराई पूर्वक कथन, तीर्थ-स्थानों के भ्रमण आदि आड़म्बर मात्र हैं।[76] धनोपार्जन हेतु धर्म का दुरुपयोग तथा धर्माड़म्बर हेतु धनशक्ति का अहंकारपूर्ण प्रदर्शन शंकरदेव एवं तुलसी दोनों को अमान्य थे-

शंकरदेव :

यदि बोला धन हते धर्म उपजय। सेहि धन हंते स्वर्ग सुखक पावय।।
शुनियो स्वर्गत आछे यत यत सुख। समस्ते बिनाशी सदा पावे मात्र दुख।।[77]

तुलसीदास :

दम दुर्गम दान, दया, मख, कर्म, सुधर्म अधीन सबै धन को।
तप, तीरथ, साधन, जोग, बिराग सों होइ नहीं दृढता तन को।।[78]

धर्म के लिए आवश्यक है- विशिष्ट मानसिकता। यदि तपस्या, तीर्थ-भ्रमण इत्यादि साधन मानसिक मनोभूमि निर्मित करने में विफल रहते हैं तो वे विशुद्ध आड़म्बर है। अन्य आड़म्बरो मे शास्त्र-अध्ययन[79] एवं श्रद्धाहीन प्रतिमापूजन[80] की ओर भी दोनों ने सकेत किए है। इसप्रकार स्पष्ट है कि दोनों जिस धर्म के प्रतिपादन हेतु प्रयासरत थे उसमें आड़म्बरहीन हृदय की निर्मलता ही वरेण्य एवं आवश्यक थी। तुलसी ने मन, वाणी और कर्म को अनाचार के पंक से पृथक रखने का उपदेश किया है-

1. वेष बिसद बोलनि मधुर, मन कटु करम मलीन।
   तुलसी राम न पाइए भएँ बिषय-जल-मीन।।[81]
2. माखी, काक, उलूक, बक, दादुर से भए लोग।
   भले ते सुक, पिक, मोर से, कोउ न प्रेमपथ जोग।।[82]

इसीलिए वे समझते हैं- 'तजि देबक बायस की करनी।'[83] शंकरदेव को भी ये बातें मान्य हैं।

(ङ अपदेवता का बहिष्कार शकरदेव और तुलसी के युग मे वैदिक-अवैदिक

मान्यताएँ तो थीं ही, लोक में विभिन्न प्रकार के देवों, भूत-प्रेतों इत्यादि की पूजा-उपासना भी प्रचलित थीं। अन्य देवी-देवता, अनिष्ट देवता, अपदेवता अथवा भूत-प्रेत इत्यादि की पूजा पर दोनों ने प्रहार किया है .

शंकरदेव :

अपदेवताक पूजि हैबेक पिशाच। प्रेतर लगत फुरिबेक बलि खाइ।।[84]

तुलसीदास :

तुलसी परिहरि हरि हरहिं, पाँवर पूजहिं भूत।
अंत फजीहति होहिंगे गनिका के से पूत।।[85]

विभिन्न प्रकार के अंधविश्वासों के प्रति भी दोनों ने आलोचनात्मक रुख अपनाया है। इस दृष्टि से यहाँ तुलसीदास का एक उदाहरण देखा जा सकता है जिसमें गाजी मियाँ की दरगाह पर जाने के अंधविश्वास पर उन्होंने प्रहार किया है-

लही आँख कब आँधरे, बाँझ पूत कब ल्याय।
कब कोढ़ी काया लही ? जग बहराइच जाइ।।[86]

शंकरदेव ने ऐसा कोई प्रत्यक्ष कथन नहीं किया है, लेकिन उनके 'एक देव एक सेव' के अकाट्य सिद्धान्त से ध्वनित होता है कि किसी अपदेव की पूजा व्यर्थ है। 'गीता' में भी महा गया है-

यांति देवव्रता देवान् पितॄन्यांति पितृव्रता:
भूतानि यांति भूतेज्या याति मद्याजिनोऽपि माम्।।[87]

तात्पर्य यह है कि आलोच्य कवियों द्वारा धर्मनिष्ठ जीवन पद्धति में अपदेवो, भूतप्रेतादिकों की निन्दा न केवल उपयोगिता एवं नैष्ठिकता से प्रभावित है अपितु शास्त्रानुमोदित भी है।

(च) धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय : तत्युगीन समाज में पारम्परीण रूप मे चली आयी हुई विभिन्न प्रकार की सात्विक उपासना पद्धतियों के प्रति आलोच्य कवियों ने धार्मिक सहिष्णुता का रूख अपनाया था। वैष्णव एवं शैव मत में परस्पर समन्वय और सौहार्द के पोषण के भाव इसके उत्तम उदाहरण माने जायेंगे। इस दृष्टि से शंकरदेव की अपेक्षा तुलसी अधिक उदार प्रतीत होते हैं। वस्तुत: वैष्णव भक्ति-धर्म वैष्णवेतर धार्मिक मान्यताओं के प्रति कभी अनुदार नहीं रहा है।

शंकरदेव की कुछ उक्तियों- 'बेदर बिहित कर्म करिबाक, भकतर योग्य नुई'[88] अथवा 'अन्य देवी देव नकरिबा सेव'[89] आदि को उपलक्षण भर ही स्वीकारना चाहिए, अर्थवाक्य के रूप मे नहीं[90] '' **'बेदर बिहित सतते आचरे सेहिजन पुण्यवत'**[91] जैसी सहिष्णु उक्तियों को ही शकरदेव के प्रामाणिक उद्घोष कहना सगत है उन्होने न

केवल वैष्णव बल्कि वैष्णवेतर शास्त्रो के प्रति श्रद्धा करने का भी विधान किया है-

भागवते शास्त्रे श्रद्धा करिब नितांत।
नकरिब निन्दा आन शास्त्रको एकांत।।[92]

वस्तुत: शंकरदेव का वैष्वण आचार्य और धर्मगुरु रूप इतना उदार है कि वे पारम्परीण धार्मिक भावना- तीर्थ-भ्रमण,[93] श्राद्ध,[94] विग्रहपूजा[95] इत्यादि विधानों का भी सम्मान करते हुए प्रतीत होते है।

पारम्परीण धर्म-भावना की स्वीकृति तुलसी में अपेक्षया अधिक उदारतापूर्वक हुई है। 'विनय-पत्रिका' के आरंभिक चौसठ पदों में गणेश, सूर्य, शिव, पार्वती, गगा, यमुना, काशी, चित्रकूट, हनुमान, विन्दुमाधव इत्यादि की स्तुतियाँ उनके उदार और पारम्परीण धार्मिक भावना के पोषक हैं। अन्य रचनाओं में भी उनकी धार्मिक सहिष्णुता, उदारता और परम्परागत भक्ति के उदाहरण समान रूप में पाये जाते हैं। पौराणिक देव-देवियों की कौन कहे, तुलसी ने लोक-देवता, ग्रामदेवता, नाग और वनदेवता तक को भी महत्त्व दिया है-

1. पूजहु गनपति गुर कुलदेवा।[96]
2. पूजीं ग्रामदेवि सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलिभागा।।[97]
3 बनदेवीं बनदेव उदारा। करिहहिं सासु ससुर सम सारा।।[98]

इसका तात्पर्य यह नहीं कि तुलसी बहु देववाद के हिमायती थे। वस्तुत. तुलसी के भक्ति-दर्शन के मूल में उनका उदार वैष्णव भक्त हृदय है जो जगत को 'सीय राम मय' जानता है। साथ ही ऐसी उक्तियाँ लोकमत एवं गृहसूत्रों के आदेश 'यथा मगलऽवा' के प्रति तुलसी के मन में सम्मान के भाव को भी प्रकट करती है।

विष्णु और शिव में एकत्व स्थापना की दिशा में पुराणों में ही उल्लेख प्राप्त होते हैं।[99] 'भागवत' का भी उद्घोष है- 'वैष्णवानां यथा शम्भुः'।[100] अस्तु, अकारण नहीं कि शंकरदेव ने घोषणा की-

गुण नाम यत विष्णु शिवर। ताक भिन्न बुद्धि करै यिटो नर।।
नामर सियो महा अपराधी। नरकत परै दैबे नबाधि।।[101]

अन्यत्र शंकरदेव ने भगवान विष्णु से ही कहलवाया है-

आत नकरिबा खेद किचितेको नाहि भेद, तोम्हारे आमारे एके काया।।[102]

उन्होंने केवल शिव से नहीं बल्कि ब्रह्मा से भी विष्णु का अभेद स्वीकार किया है। प्रह्लाद ने नृसिंह की क्रमश: ब्रह्मा, शिव और विष्णु त्रिदेव के अश रूप मे ही वन्दना की है।[103] मार्कण्डेय ऋषि के वृतान्त द्वारा भी त्रिदेव में एकात्मभाव लक्षित होता है 'एके मूर्ति जाना ब्रह्मा विष्णु त्रिनयण[104]

अन्यत्र शकर की उक्ति है 'मइ ब्रह्मा विष्णु आमि तिनिओ ईश्वर।'[105] भगवान शिव को महत्त्व देने के परिणाम स्वरूप ही उन्होंने 'ओरेषा वर्णन' मे स्नानोपरांत शिवालय में जाकर शिव की वन्दना करने का विधान भी किया है।[106] 'अमृत मंथन' में भी उन्होंने विष्णु और शिव की अभिन्नता प्रतिपादित की है।[107] उक्त उदाहरण ऐसा मानने को बाध्य करते है कि शंकरदेव विष्णु से शिव (एव ब्रह्मा) को अभिन्न मानने के पक्ष में थे। यह दृष्टिकोण उनकी पांथिक सहिष्णुता और समन्वय चेतना का परिचायक है।

तुलसीदास के समय में वैष्णव और शैव सम्प्रदायों में द्वेष और मनोमालिन्य अधिक था। तुलसी ने उन्हें बड़े कौशलपूर्वक दूर करने की कोशिश की। दोनो मे समन्वय स्थापन की दृष्टि से उन्होंने राम कथा के साथ शिव की भी कथा लिखी 'जानकी मंगल' के साथ ही 'पार्वती-मंगल' की रचना की। उन्होंने 'मानस' के जिन चारों घाटों की कल्पना की, उसके प्रथम घाट पर ही वक्ता के रूप में शिव को उपस्थित किया एवं याज्ञवल्क्य के अग्रलिखित कथन द्वारा शिव चरित मे अनुरक्ति को ही रामभक्ति का मानदण्ड बना दिया-

प्रथमहि मैं कहि सिव चरित बूझा मरमु तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त बिकार।।[108]

आगे उन्होंने अनेक दिव्य राम (विष्णु) और शिव में ऐक्य स्थापन कराया है। उनके अनुसार शिव की आराधना किये बिना कोई रामभक्त हो ही नहीं सकता एव न राम की उसे कृपा ही प्राप्त होती है।[109] स्वयं श्रीराम की उक्ति है- 'सिब द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा।।'[110] काकभुशुण्डि के माध्यम से तुलसी ने अपनी मान्यता स्थिर की है-

सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई।।[111]

स्वयं भगवान राम भी पिता की आज्ञा के पालनार्थ वनगमन के अवसर पर मात्र शिव ही नहीं, अपितु समस्त शिव-परिवार का स्मरण- 'गनपति, गौरि, गिरीसु मनाई'[112] करते हैं। अस्तु, स्पष्ट है कि तुलसी ने शैव और वैष्णव मत में पूर्ण समन्वय एवं ऐक्य स्थापना करने का प्रयास किया है। निःसन्देह इसके योग्य परिणाम हिन्दी-क्षेत्र मे हुए भी है।

उपरि विवेचन से स्थिर होता है कि शंकरदेव और तुलसी दोनों पांथिक दृष्टि से सहिष्णु और शैव एवं वैष्णव पन्थ में समन्वय एवं सामंजस्य स्थापन के लिए प्रयत्नशील हैं। इतना अवश्य है कि इस दिशा में तुलसी अपेक्षया अधिक उदार दृष्टि सम्पन्न हैं

(छ) धर्म का नैतिक आधार शंकरदेव और तुलसी द्वारा प्रतिपादित धार्मिक मान्यताओं का मूलाधार नैतिक है। दोनों ने स्वधर्म के पालन[113] पर न केवल बल दिया, बल्कि उसे नीति और विवेक सम्मत आधार प्रदान किया। इस दृष्टि से दोनों ने काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि को संयमित करने एवं सत्य, शौच, शम-दम इत्यादि[114] को महत्त्व देने की बात स्वीकार की। इन्हीं साधनों से मनुष्य धीर, सरल स्वभाववाला, परोपकारी, दयालु, सुशील आदि हो सकता है। शंकरदेव ने 'भागवत' के अनुरूप ही नीति सम्मत धर्म का प्रतिपादन निम्नांकित रूप में किया है-

शंकरदेव : हुया शौच करा नित्ये मनक संयम।
दिया दान समस्तके बुद्धि करि सम।।
परर धर्मक निहिंसिबा कदाचित।
करिबा भूतक दाया सकरुण चित्त।।
हुइबा शांत चित्त सर्ब धर्मत वत्सल।
एहि भागवत धर्म जाना महाबल।।[115]

तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के 'लंका-काण्ड' में जिस 'विजय-रथ' की कल्पना की है वस्तुत. वह धर्म रथ ही है। उसके माध्यम से व्यक्त विचार धर्म के नैतिक आधार के ही प्रतिपादक है। यथा-

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ ध्वजा पताका।।
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे।।
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा।।
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।।
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा।।[116]

तात्पर्य यह कि धर्माचारण के लिए कार्य, मन और वाक्य को नैतिक स्तर पर नियंत्रित करना नितान्त आवश्यक है।

शंकरदेव और तुलसीदास ने धर्म को सदा व्यापक अर्थ में ग्रहण किया। जिससे लोक और परलोक बने- अभ्युदय और नि·श्रेयस की सिद्धि हो, उसे ही दोनों ने धर्म माना। अत. स्वाभाविक ही था कि उन्होने दैनन्दिन जीवन मे शुचिता पर बल दिया। 'धर्म धुरीण' भरत के कथन के माध्यम से तुलसी की मान्यता है-

करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि।[117]

यह उक्ति उनके नैतिक, भाविक और बौद्धिक दृष्टि के सामंजस्य का परिणाम है। उनकी निम्नाकित उक्तियो मे धर्म मे सत्य और अहिंसा के महत्त्व एव सुमार्ग पर

चलने की बात स्पष्ट है। यथा-

1. धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।।[118]

2. परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।[119]

3. रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरहि न काऊ।।[120]

शंकरदेव ने भी धर्म में सत्य, विश्वास, अहिंसा पर बल देते हुए सन्मार्ग को अंगीकृत करने का अनेकानेक उद्घोष किया है। हिंसा के विरोध में तो उनकी स्पष्ट उक्ति है- देवको उद्देशि पशु नकरिबे हिंसा।[121] क्योंकि 'आत्मा रूपे ईश्वर परर शरीरत'[122] की स्थिति है।

(ज) एक देव : भारतीय चिन्ताधारा मे 'एकं सत' की मान्यता रही है। इसे ही विभिन्न पुराणों एवं अन्य ग्रंथों में विविध रूपों में व्याख्यायित किया गया है। 'भागवत' की मान्यता है-

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखा ।
प्राणोपहाराच्य यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्यतेज्या.।।[123]

इसके अनुरूप ही शंकरदेव और तुलसीदास ने भी एक सर्वोच्च देव की विचारधारा को अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रचारित और स्थापित किया है। यही कारण है कि शंकरदेव ने 'कृष्ण रूपे परम ईश्वर' (केलिगोपालनाट) का उद्घोष किया। उनके श्रीकृष्ण की उक्ति है-

एकेश्वरे आछो आमि आदि निरंजन। सृष्टि जे नाहिके मोक नकरे शोभन।।
चैध्यय भुवन हृदयते दिलो ठाइ। प्रकृति देवीओ आछा गर्भत लुकाइ।।
जड़ हुया आछे तार नाहिके चेतन। आमि महा चैतन्य पुरुष निरंजन।।[124]

अतः, अकारण नहीं कि शंकरदेव द्वारा प्रतिपादित मत में 'एक देउ एक सेउ, एके बिना नाहि केउ' अथवा 'विष्णुत परे आन नाहिं केउ' की भावना ही मूल प्रतिपाद्य बनी। अन्य सभी देवी-देवताओं को उन्हीं के अधीन स्वीकार किया गया है।

एक देव की भावना का व्याख्यान तुलसी ने भी किया। भागवत के उपरि उद्धृत श्लोक के अनुरूप ही तुलसी ने लिखा-

पात पात कै सींचिबो, बरी-बरी कै लोन।
तुलसी खोटे चतुरपन कलि डहके कहु को न।।[125]

शंकरदेव से तुलसी की भिन्नता मात्र यह रही कि शंकरदेव ने जहाँ एकमात्र परमोच्च देव के रूप में कृष्ण यानी विष्णु कृष्ण को स्वीकार किया, वहाँ तुलसीदास ने राम यानी विष्णु राम को तुलसी के राम 'एक अरूप अनीह अनामा अज
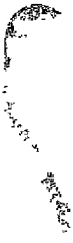
सच्चिदानन्द परधामा' होकर भी दशरथ पुत्र हैं। उधर शंकरदेव के कृष्ण देवकी-पुत्र होकर भी निर्गुण और निराकार हैं।

अस्तु, कहा जायेगा कि दोनों आलोच्य कवियों ने विभिन्न देवी-देवताओ मे मात्र एक सर्वोपरि देव (परब्रह्म विष्णु) की सेवा-उपासना इत्यादि को ही महत्त्व दिया है। शंकरदेव और तुलसी दोनों ने क्रमश. मात्र श्रीकृष्ण अथवा श्रीराम की शरणागति प्राप्ति को ही एकमात्र लक्ष्य और धर्म माना है।

धार्मिक उपासना और पांथिकता

भक्त का लक्ष्य भगवान की शरण पाना है। इसके निमित्त वह अपने इष्टदेव की अपनी रुचि के अनुसार उपासना करता है। इस प्रकार भक्त होता है उपासक और इष्टदेव उपास्य। दोनों की सत्ता अलग-अलग होती है। उपास्य की सामीप्य प्राप्ति ही प्रत्येक प्रकार की उपासना का मूल लक्ष्य होता है। नाम भेद से विष्णु ही शंकरदेव और तुलसीदास दोनो के उपास्यदेव है। एक ने उन्हें कृष्ण के नाम से और दूसरे ने उन्हें राम के नाम से अपनाया है। दोनों की उपासना-पद्धति में भी पर्याप्त अन्तर है। लक्ष्य की समानता के बावजूद उपास्यदेवों, उपासना-पद्धतियो इत्यादि की दृष्टि से दोनों में किंचित् निजी वैशिष्ट्य प्राप्त होते हैं जिन्हें विभिन्न शीर्षकों में यहाँ अध्ययनीय बनाया गया है।

(क) उपास्यदेव : दोनों ने अपने-अपने इष्टदेवों के स्वरूप इत्यादि का भावप्रवण रीति से विस्तृत वर्णन किया है। शंकरदेव ने अपने उपास्यदेव के सम्बन्ध में 'भक्ति रत्नाकर' के पंचम माहात्म्य (परमगतिप्रदभजनीयपरमदे माहात्यमाह) में विस्तारपूर्वक विचार किया है, जिसका आधार श्रीधरस्वामी कृत 'भागवत' की व्याख्या है। उनके अनुसार सर्ग, विसर्ग, स्थानादि नौ लक्षणो से युक्त श्रीकृष्ण ही जगतधाम हैं।[126] वे अद्वैत के अर्वाचीन सोपाधिक स्वरूप को 'अविकल्प निर्भेदम्' अतएव आनन्दमात्रम्' मानते हैं।[127] तभी 'चतुर्विंशति अवतार' वर्णन मे उन्होंने उद्घोषित किया है कि कृष्ण ने ही युग-युग में असंख्य अवतार धारण किया है।[128] इष्टदेव और उनकी उपासना-पद्धति की दृष्टि से 'भक्ति-रत्नाकर' मे सकलित निम्नाकित श्लोक शंकरदेव की मान्यताओ को पूर्णरूपेण स्पष्ट करते है-

> एकं शास्त्रं दैवकीपुत्रगीतन्, एको देवो देवकी पुत्र एव।
> कर्म्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा, मन्त्रोऽप्यकः तस्य देवस्य नाम।।[129]

वस्तुत: यह कृष्ण, विष्णु-भिन्न नहीं हैं- 'विष्णुत परे आन नहिं केउ।' उसी कृष्ण के स्वरूप का शंकरदेव ने अपनी विभिन्न रचनाओं में निरूपण किया है[130] शंकरदेव अपने इष्टदेव के दाक्षिण्य दयार्द्रता एव

शरणागतपन्नता इत्यादि असख्य गुणों का पुनः-पुन. कथन करते हुए नहीं अघाते है। उनके कतिपय गुणों को अंकित करनेवाला एक बरगीत द्रष्टव्य है-

धु जय जय यादव जलनिधिजाधव धाता,
श्रुतमात्राखिलत्राता, स्मरणे करय सिद्धि।
दीन दायालनिधि, भकत मुकुतिपददाता।।

पद

जगजनजीवन अजनजनार्दन
दनुजदमन दुखहारी।
महदानन्द, कन्द परमानन्द,
नन्द नन्दनवनचारी।।
बिबिध बिहार बिशारद शारद,
इन्दुनिधि परकाशी।
शेष शयन शिव केशीबिनाशन,
पीतवसन अविनाशी।।
जगतबन्धुबिधु, माधव मधुरिपु,
मधुरमूरति मूरनाशी।
केशव चरण, सरोरूह किंकर
शंकर एहु अभिलाषी।।[131]

शकरदेव के आराध्य इष्टदेव कृष्ण का उद्घोष है-

भकतर पूरो मनोरथ, दिओं काम मोक्ष धर्म अर्थ।[132]

तुलसीदास के उपास्य राम दशरथ-सुत और रघुवंश-मणि होकर भी विश्वरूप है।[133] भक्त पर प्रसन्न हो उसके अनुरंजन एवं प्रबोध हेतु वे अपना विराट रूप भी दिखा देते है- देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मड।।[134]

लक्ष्मण के शब्दों में- राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा।
सकल बिकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा।।[135]

इनके गुण और चरित्र अपरिमित हैं। 'मानस' में भगवान शिव के माध्यम से तुलसी की उक्ति है-

राम चरित सत कोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा।
राम अनन्त अनन्त गुनानी। जन्म कर्म अनन्त नामानी।।[136]

तुलसी ने अपने इष्टदेव राम के स्वरूप का विभिन्न रचनाओ मे अनेकत्र

वर्णन किया है। उनकी विशेषताएँ भी अपरिमित हैं। तुलसी अन्य बालको की तुलना में कोशलपाल राम के व्यक्तित्व में विचित्र किन्तु स्पृहणीय वैशिट्य का उल्लेख करते हैं-

भूमिपाल, ब्यालपाल, नाकपाल, लोकपाल
कारन- कृपालु, मैं सबै के जी की थाह ली।
कादर को आदर नाहीं काहू के देखियत,
सबनि सोहात है सेवा-सुजानि टाहली।।
तुलसी सुभायँ कहैं, नाहीं कछु पच्छपात,
कौने ईस किये कीस भालु खास माहली।[137]

तुलसी को पता है कि-

आलसी-अभागी, अधी-आरत-अनाथपाल,
साहेब समर्थ एक नीके मन गुनी मैं।
दोष-दुख दारिद-दलैया दीनबंधु राम।
'तुलसी' न दूसरो दयानिधान दुनी मैं।।[138]

राम ने तो शत्रुओं तक की भी बुराई नहीं की है- 'अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा।'[139] 'राम की एकमात्र प्रतिज्ञा पन हमार सेवक हितकारी'[140] है। अस्तु, अकारण नहीं कि तुलसी ने अपने इष्टदेव के रूप में राम का चुनाव किया है।

उपरि विवेचन से स्पष्ट है कि शंकरदेव और तुलसी दोनों के उपास्यदेव कृष्ण अथवा राम, विष्णु-भिन्न नहीं हैं। उनका रूप-सौन्दर्य जितना आकर्षक है, उतना ही उनका शील भक्तों को वशीभूत करनेवाला। उनके 'भकतर पूरो मनोरथ' अथवा 'पन हमार सेवक हितकारी' रूप ने ही शंकरदेव और तुलसी को सब प्रकार से वशीकृत कर लिया है।

(ख) उपासना का स्वरूप : उपासना का अर्थ है निकट बैठना यानी उपासक (भक्त) का उपास्य (इष्टदेव) की समीपता प्राप्त करना। भारतीय परम्परा में त्रिविध-सात्विकी, राजसी और तामसी उपासना स्वीकृत हुई है। आलोच्य कवियों को इनमे प्रथम प्रकार की उपासना मान्य है। राजसी और तामसी उपासनाओ को दोनों ने वैयक्तिक स्तर पर अस्वीकृत किया है।

दोनों की उपासना का दूसरा वैशिष्ट्य है इष्टदेव के प्रति अनन्य निष्ठा। इस दृष्टि से शंकरदेव ने अपनी अनुयायियों को पुनः-पुनः सचेत किया है-

अन्य देवी-देव नकरिबा सेव नखाइबा प्रसाद तार।
मूर्तिको नचाइबा गृहो नपशिबा भक्ति हैब व्यभिचार

एके कृष्ण देव करियोक सेव, धरियो ताहान नाम।
कृष्ण दास हुया प्रसाद भुंजिया, हस्ते करा तान काम।।[141]

तुलसीदास ने अनन्यता और एकनिष्ठता को प्रतिपादित करने के लिए ही चातक और मीन के दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं-

चातक तुलसी के मते स्वातिहुँ पियै न पानि।
प्रेम तृषा बाढति भली घटें घटैगी आनि।।[142]

X X X

सुलभ प्रीति प्रीतम सबै कहत, करत सब कोइ।
तुलसी मीन पुनीत ते त्रिभुवन बड़ो न कोइ।।[143]

आलोच्य कवियों की उपासना की तीसरी विशेषता है सरलता। सब प्रकार की जटिलताओं का परित्याग कर दोनों ने उपासना की सरलतम विधि अपनायी-इष्टदेव के नाम का स्मरण। शंकरेदव के मन में नाम-स्मरण को इतना अधिक महत्त्व मिला कि उसकी एक अन्य आख्या 'नामधर्म' ही हो गयी है। तुलसी ने भी नाम-जप को रामोपासना का सरलतम और अत्युत्तम रूप स्वीकार किया है। राम की नामोपासना का विधान करते हुए तुलसी ने कहा- 'बीजमंत्र जपिये सोई, जो जपत महेस'[144] एवं इस बीज मंत्र का संकेत उन्होंने 'रामचरितमानस' में इस प्रकार किया है-

बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को।।

....

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू।।[145]

ाकरदेव ने नाम-स्मरण की विधि निम्नांकित रूप में स्वीकार की है-

भाई मुखे राम बोला हृदये धरा रूप।
एतेके मुकुति पाइबा कहिलो स्वरूप।।[146]

तुलसी की पंक्ति- 'रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें।।[147] भी उसी ओर सकेत करती है। स्पष्ट है कि दोनों ने इष्टदेव के नाम-कीर्त्तन और स्वरूप-स्मरण में उचित सामंजस्य स्थापित किया है। इष्टदेव के स्वरूप और गुण का बार-बार स्मरण कराना ही वस्तुत. नाम-जप का मूल उद्देश्य है। इसीलिए तुलसी ने कहा है-

समुझि समुझि गुनग्राम राम के, उर अनुराग बढ़ाउ।[148]

वस्तुतः उपासना की यह पद्धति इतनी सरल और सहज है कि किसी भी पात्र के लिए स्थान और काल कभी बाधक नहीं बनता तुलसी को सभवत

और भी सरल बनाने के अभिलाषी हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि राम, तुम्हें प्रिय लगे अथवा राम को तुम प्रिय लगो- इन दोनों बातो में से तुम्हें जो सुगम लगे उसे अपना लेना ही रामोपासना है-

कै तोहि लागहिं राम प्रिय, कै तू प्रभु-प्रिय होहि।।
हुइ महँ रुचै जो सुगम सो कीबे तुलसी तोहिं।।[149]

शंकरदेव और तुलसी दोनों आजीवन भगवान की प्राप्ति के लिए सरल-सहज उपासना पद्धति का ही लोक-जीवन में प्रचार-प्रसार करते रहे। नामोपासना रूपी कल्पतरु की छाया पाकर ही तुलसी (एक जंगली पौधा) गोस्वामी तुलसीदास बने[1] और शंकर भूइयाँ धर्मगुरु शंकरदेव। अस्तु, इस उपासना-पद्धति का वैशिष्ट्य स्वय सिद्ध है।

(ग) पान्थिक वैशिष्ट्य : वैष्णव होने के कारण शंकरदेव और तुलसी की धार्मिक मान्यताओं में अनेक विधि साम्य है। किन्तु पांथिक दृष्टि से उन में पर्याप्त अन्तर भी है। दोनों के उपास्यदेव और पंथ तो भिन्न-भिन्न हैं हीं, उनकी प्रेरक परम्परा भी भिन्न-भिन्न रही हैं।

शंकरदेव ने जगदगुरु शंकराचार्य की अद्वैतवादी विचारधारा को 'भागवत' की श्रीधरी व्याख्या के अनुरूप ग्रहण किया। उन्होंने जिस भक्ति-पंथ को स्वीकार किया, कालान्तर में उसकी आख्या 'एकशरणीया धर्म' (अथवा, एकशरणीया नाम-धर्म) अथवा नामधर्म या 'महापुरुषिया धर्म' हुई। उनकी मृत्यु के पश्चात् उसका विस्तार सत्रों और संहतियों के रूप में हुआ। यहाँ संक्षेपत: इतना कहना ही अलम् है कि शकरदेव द्वारा प्रचारित वैष्णव मत कालान्तर मे चार संहतियों (1) ब्रह्म, (2) पुरुष, (3) काल और (4) निका में बँट गया। उनके अलग-अलग सत्र विकसित हुए। उनके सत्रों में नित्य-प्रसंग की योजना चली। कुछ नैमित्तिक प्रसग भी आयोजित किये जाने लगे। सत्रों मे 'शरण' (दीक्षा) देने एवं प्रसंग आयोजित करने के अलग-अलग विधि-निषेध मान्य हुए। किन्हीं-किन्हीं सत्रों में देव-विग्रह को भी स्थान मिला है। यों मूलत: ग्रंथ-विग्रह की मान्यता ही अधिक है। आज स्थिति यह है कि वर्तमान असम के गॉवों और नगरों में सर्वत्र सत्रों और नामघरों का जाल फैला हुआ है। उनके माध्यम से ही शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित भक्ति की 'रसमयी' वाणी जन-मानस को आप्लावित करती है।

तुलसीदास के संबंध में कहा जाता है कि वे रामानुज सम्प्रदाय की रामानन्दी परम्परा में पड़ते हैं। कुछ लोगों ने उन्हें वैरागी सम्प्रदाय से भी सम्बद्ध करना चाहा है वस्तुत तुलसी के जीवन काल में अथवा उनकी मृत्यु के पश्चात् ही

उनकी भक्ति परम्परा न तो किसी पथ विशेष के नाम से जानी गयी और न उसकी कोई परम्परा ही विकसित हुई। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें 'स्मार्त वैष्णव' माना है।[151] इसके बावजूद तुलसी और उनकी मान्यताएँ प्रधानत: उत्तर भारत के हिन्दू घरों में सर्वमान्य हो सकी हैं। यह उनकी महत्ता और उनकी उपासना-पद्धति की गौरवपूर्ण विशिष्टता का द्योतक है। वस्तुत: सभी पंथों से निरपेक्ष रहकर सभी पंथों का यथोचित सम्मान करने के कारण वे सभी पंथों से ऊपर बने रहे। यही कारण है कि उत्तर भारतीय अधिकांश वैष्णव-पंथों, मुख्यत सभी रामोपासक पंथों में 'रामचरितमानस' को समान रूप से आदर प्राप्त है। सभी उसे अपने-अपने पंथ के अनुरूप ही नित्य पठनीय और पूज्य मानते हैं।

सारांशत: कहा जायेगा कि शंकरदेव और तुलसी पांथिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न पडते है। शकरदेव के नामपर पंथ-उपपंथ विकसित हुए जो आज भी असम के जन-जीवन में व्याप्त हैं। तुलसी ने पंथ चलाने की दिशा में प्रयत्न ही नहीं किया। इसके बावजूद वे करोड़ों व्यक्तियों के मानस में गहराई से पैठ गये हैं। उनके द्वारा निर्देशित भक्ति मार्ग एवं जीवन दर्शन आज भी आदर्श है।

निष्कर्ष

शंकरदेव और तुलसी की विचारधाराओं के उपरि विश्लेषण से विदित है कि उन्हें धर्म का पारम्परीण अर्थ-मानव के अभ्युदय और नि:श्रेयस की सिद्धि-मान्य है। धर्म विषयक इस पारम्परीण मान्यता का उनके समय में ह्रास हो चुका था। उस समय धर्म के नाम पर तरह-तरह के ढोंग, आड़म्बर, वामाचारिता, तांत्रिकता, पथ-उपपंथों के विस्तार, पांथिक कटुता, भूत-प्रेतादि की पूजा, अनावश्यक तीर्थ-व्रत इत्यादि का बोलबाला था। धर्म के नाम पर चलनेवाली इन कु-रीतियों पर दोनो ने प्राय: समान रूप से प्रहार किये हैं। साथ ही आदर्श धार्मिक प्रतिमान के रूप मे दोनों ने प्राय. समान ढंग के विचार व्यक्त किये हैं।

ह्रासोन्मुखी धार्मिक चेतना को संस्कारित और पुनर्व्यवस्थित करने की दृष्टि से शंकरदेव और तुलसी ने 'श्रुति सम्मत हरि भक्ति-पथ' के रूप मे नैतिक आधार पर जिस मानव धर्म का मार्ग प्रशस्त किया उसमें एकमात्र विष्णु सर्वोच्च देव स्वीकृत हुए। शंकरदेव के कृष्ण और तुलसी के राम विष्णु से भिन्न नहीं हैं। सब ओर से चित्तवृत्तियों का निरोध कर उनकी कृपा प्राप्त करने को ही दोनों ने सर्वोत्तम धार्मिक आदर्श निरूपित किया है। इसके लिए सभी प्राणियों को विष्णुमय मानने, विष्णु और विष्णुभक्त मे अन्तर नहीं करने, विभिन्न पंथों-मुख्यत: वैष्णव और शैव में सहिष्णुता पनपाने भूत प्रेतादि की पूजा धार्मिक

आडम्बर और सर्व प्रकार की हिंसा को परित्याग करने इत्यादि पर दोनों ने प्राय समान रूप में बल दिया है। धार्मिक चेतना के परिष्कार की दृष्टि से गुरु-कृपा, संत-संगति और आराध्यदेव के नाम स्मरण को दोनों ने महत्त्वपूर्ण घोषित किया है। दोनों ने आचरण की पवित्रता, नैतिकता और कर्मशीलता को धर्म की आधारशिला माना है।

विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय चलाने की कामना दोनों में से किसी की नहीं थी। दोनों का धार्मिक लक्ष्य, मात्र मानव-कल्याण था। यह और बात है कि जिस 'एकशरणीया नाम-धर्म' को शंकरदेव ने मानव धर्म के रूप में प्रतिपादित किया, वही परवर्ती दिनों में सहतियों में विभक्त हो रूढ़ि बन गया। तुलसीदास ने धर्म को कोई साम्प्रदायिक रूप नहीं दिया। उनके विचारों को यद्यपि कभी रामानन्दी और कभी वैरागी सम्प्रदाय के सांचे में वर्गीकृत करने की चेष्टा कतिपय विद्वानों ने की है तथापि वे मूलत. पंथ निरपेक्ष मानवताधर्मी विचारों के पोषक हैं। धार्मिक दृष्टि से शंकरदेव व तुलसी मे यत् किंचित् अन्तर होते हुए भी उनके मूल धार्मिक विचारो और आदर्शो में वैषम्य प्राय: नहीं है।

संदर्भ :-

1 मनुस्मृति 2/36
2. भाग. 11/37; मानस 7/97 (क)
3. भाग. 11/37, 12/13; मानस 7/97 (ख)
4. भाग. 12/13; वि.प 139/7
5. वही 12/40
6 वि.प. 139/4
7. कीर्तन 132-33, भाग 10/351
8. दोहा 558, 495, 496, 551
9 नि. न. सि 336
10. दोहा 556
11. भाग. 12/26, 40, मानस. 7/97/4, 7/99/3; दोहा 63
12. भाग. 10/985, मानस 7/99/1, दोहा 332
13. दोहा 409, 410, 411
14. भाग. 12/25
15. कविता 7/119
16. भाग 10/936: कविता 7/105
17 भाग 12/32 36-37 मानस 7/99 (क
18 नि न सि 315

19 भाग 12/2०
20. भाग 12/36; वि प. 137
21. मानस 7/98/4
22. भाग. 12/37
23. दोहा 555
24. वही 556
25. वही 553
26. वही 552
27. कविता 7/105
28. दोहा 554
29. वही 19
30. कविता 7/84
31. दोहा 383
32. वही 326
33. वही 550
34. कविता 7/162
35. दोहा 65
36. मानस 2/166, 6/30
37. नि.न.सि 314-15
38. कीर्तन 13
39. वही 104
40. नि न.सि 317
41. भाग. 12/110
42. वही 12/118
43. वही 10/413
44. मानस 1/26/2-4
45. वही 7/102/2-3
46. भाग 11/754; मानस 7/102 (क)
47. भाग. 11/170, मानस 7/102/3, 7/129/3, ब रा. 48, 52, वि प 67
48. भाग 6/300; मानस 1/26/1
49. भाग 10/112, 6/228; दोहा 29, वि प 131
50. मानस 1/23, 25
51. कीर्तन 2246, 2262
52. भाग 10/564
53. मानस 1/26
54 भ प्र 188 89

55. मानस 7/1 (छं)
56. कीर्तन 66-67, भाग 10/67
57. मानस 1/20/4-6
58. कीर्तन 49-58
59. भ.र. 27, भाग 11/184; मानस 7/119/10, 7/122/3
60. कीर्तन 1668; मानस 1/2/4
61. भाग. 11/180; मानस 7/122/3
62. भ.र. 22/3,4,5,8,9; वै.सं. 9,10, 11, 13, 14,18; भाग. 11/182, मानस 7/124/4
63 भ.र. 3/12
64. नि.न.सि. 57
65. वही 2
66. मानस 1/5 (सोरठा)
67. वही 1/चौ 1
68. भ.र. (प्रथम माहात्म्यम्)
69. मानस 1/1-2
70. वही 1/165/3
71. वही 7/92/3
72. वही 7/106/3
73. वही 7/98/4
74. नि.न.सि. 139
75. बर. 9.13; वि. प. 155, 184
76. भ.प्र. 3,4; मानस 7/121/7-8
77. नि.न.सि. 134
78. कविता 7/87
79. भ.र. 45, वि.प. 197/2
80. वही 48; दोहा 392
81. दोहा 153
82. वही 331
83. कविता 7/32
84. भाग. 11/820
85. दोहा 65
86. वही 496
87. गीता 9/25
88. भ.प्र. 128
89 भाग 2/1341

90. डा. मागध, शकरदेव . साहित्यकार और विचारक, पृ. 167
91. भाग. 6/137
92. नि.न.सि 145
93. कीर्तन 2097; नि.न.सि. 219-22; मानस 2/65/1
94. कीर्तन 2238
95. कीर्तन 2097, नि न सि. 219-222
96. मानस 2/5/4
97. वही 2/7/3
98. वही 2/65/1
99. हरिवंश-विष्णु पर्व 125/41, शिवपुराण-पार्वती खंड, 34/46
100. भाग. 12/13/16
101. कीर्तन 50
102. वही 594
103. वही 467
104. भाग. 12/436
105. वही 12/438
106. कीर्तन 2189
107. भाग 8/193-99
108. मानस 1/104
109. वही 1/103/5
110. वही 6/1/4
111. वही 7/105/1
112. वही 2/80/1
113. नि.न सि 146; मानस 1/5/1
114. नि न.सि. 142, 147; भाग 11/208-20; मानस 1/43/4, 3/44/4
115 भ प्र 140-41
116 मानस 6/79/3-5
117. वही 2/258
118. वही 2/94/3
119. वही 7/40/1
120. वही 1/230/3
121. नि.न सि. 348
122 वही 356
123 भाग 4/31/14 (भ.र. 4/31/14)
124 अ पा 41-42
125 दोहा 546

126. भ.र. 5/1
127. वही 5/4
128. कीर्तन 1
129. भ. र. 5/31
130 बर 2, 20, 25 इत्यादि
131. बर. 1
132. कीर्तन 449
133 मानस 1/284/1
134. वही 1/201
135. वही 2/92/4
136. वही 7/51/1,2
137. कविता 7/23
138 वही 7/21
139. मानस 2/182/3
140. वही 1/128/3
141. भाग 2/1341-42
142. दोहा 279
143. वही 320
144. वि प. 108
145. मानस 1/18/1,2
146. कीर्तन 113
147. मानस 1/20/3
148. वि प. 100
149. दोहा 78
150. मानस 1/26
151. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास(13वॉं मुद्रण), पृ.129

पचम अध्याय

सामाजिक और आर्थिक विचारधारा

साहित्यकार अपने युग का भोक्ता ही नहीं, द्रष्टा और कभी-कभी भावी युग का स्रष्टा भी होता है। शंकरदेव और तुलसीदास दोनों ही कालजयी साहित्यकार थे। उन्हें द्रष्टा के साथ-साथ भावी युग का स्रष्टा कहना अधिक संगत है। शंकरदेव और तुलसीदास दोनों की रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि यद्यपि वे विशिष्ट धार्मिक जीवन के अनुयायी थे, तथापि समाज की हितचिंता से विमुख नहीं थे। इसके बावजूद उनके देखे हुए समाज, भोगे हुए यथार्थ एवं सुसंगठित तथा व्यवस्थित समाज विषयक उनकी मान्यताओं पर विचार करते समय यह भूल जाना उचित नहीं होगा कि शंकरदेव और तुलसीदास सही अर्थों में समाजशास्त्री अथवा अर्थशास्त्री नहीं थे। इसीलिए दोनो की रचनाओं मे यदि इस सम्बन्ध में क्रमबद्ध विचारों का अभाव भी हो, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इष्टदेव का गुणानुकीर्तन करते समय एतद्विषयक कतिपय मान्यताएँ उनकी रचनाओं में प्रासंगिक रूप में आ भर गयी है। वे मान्यताएँ मूलत. दो प्रकार की हैं- प्रथम रूप है यथार्थ यानी जैसा उन्होने तत्कालीन समाज को देखा और भोगा था, और दूसरा रूप है आदर्श, यानी उनकी दृष्टि में समाज को जैसा होना चाहिए था। इसीलिए प्रस्तुत अध्याय में पहले दोनो के सामाजिक, आर्थिक युगीन परिवेश के प्रतिबिम्बो का आकलन एव तत्पश्चात् उनके एतद्विषयक कल्पित आदर्श का संकेत किया जायेगा।

समकालीन ह्रासोन्मुखी समाज

प्रथम अध्याय में शंकरदेव और तुलसीदास युगीन सामाजिक परिस्थितियों का आकलन किया जा चुका है। उनकी पुनरुक्ति न करते हुए यहाँ केवल इतना ही सकेत करना पर्याप्त होगा कि वह समाज ह्रासोन्मुखी था। सामाजिक जीवन मे मनमानी चल रही थी। पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक जीवन मे खामियाँ व्याप्त थीं, उनसे वैष्णव-संत अप्रभावित नहीं थे। शंकरदेव और तुलसीदास की रचनाओं में तत्कालीन समाज की विभिन्न दुर्वलताओं के विवरण प्राप्त होते है।

(क) सामान्य जन-जीवन : शकरदेव और तुलसीदास का समकालीन समाज सब प्रकार से ह्रासोन्मुखी और विसंगतियों से पूर्ण था। उन विसंगतियों की चर्चा दोनो ने विस्तार से की है शकरदेव के 'एरिबे आचार धर्म बेदर बिहित और

तुलसी के 'बरन धर्म नहि आश्रम चारी' में अभिव्यक्तिगत अन्तर भले ही दिखायी पड़े, पर उनके माध्यम से व्यक्त प्रतिपाद्य में अन्तर नहीं है। तात्पर्य यह कि वर्ण और आश्रममूलक व्यवस्थाएँ उस समय उचट गयी थीं। वेद-बाह्य परम्परा में देशी-विदेशी अनेक धाराएँ शुरू हो चुकी थीं। सामाजिक संगठन ढीला हो गया था। जीवन में अनियंत्रण था। छल-छद्म का बोलबाला था। इस स्थिति का वर्णन दोनों की रचनाओं में अनेकत्र मिलते हैं। यथा-

शंकरदेव :

1. एरिबे आचार धर्म बेदर बिहित।
कुलक्रिया एको नथाकिबेक कलित।।
अनेक पाषण्ड आसि व्यापिबेक देश।
लैबे लोके पाषण्ड जनर उपदेश।।[1]

2. कहिबे नपारे एको बेद शास्त्र तत्त्व।
महाज्ञान शून्य परमार्थ विचारत।।
एकोवे नजाने किछो नपारे खण्डित।
बहुबल्की भैले ताके बुलिबे पंडित।।[2]

3 नजाने दक्षिणा विधि पूजारो नाहिके सिद्धि
नजाने प्राणीर हिंसा दोष।
आपुन जीविका अर्थे पशुगण मारे व्यर्थे
ताते मिले मनत सन्तोष।।[3]

4. ब्रह्मचारी सन्यासीयो हैबे ज्ञानहीन।
दंड कमंडलु मात्र थाकिबेक चिन।।
कटित कपिन शरीरत व्याघ्र चर्म।
बेशधारी मात्र नाहि आश्रमर धर्म।।[4]

तुलसीदास :

1. बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध इन सब नर-नारी।[5]
2. मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा।।
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहहू सब कोई।।[6]
3. असुभ बेष भूषन धरे भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं।[7]
4 सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना बैठि बरासन कहहिं पुराना
सब नर कल्पित करहिं अचारा जाइ न बरनि अनीति अपारा[8]

सामाजिक जीवन में विसंगति और अव्यवस्था फैलने का बहुत बड़ा कारण उसकी आवयविक स्थिति मे दरार पड जाना था। परस्पर भाईचारे का सम्बन्ध नष्ट हो गया था। सुविधा एव शक्ति सम्पन्न और निर्बल वर्ग अलग-थलग पड़ते जा रहे थे। शक्तिसम्पन्न निर्बलों को सब प्रकार से दमित कर रहे थे। निर्बलो को पीडित करने के भिन्न-भिन्न प्रकार आविष्कृत हो रहे थे। इस स्थिति के संकेत दोनो ने किये हैं। यथा-

शकरदेव . 1. पीडिबे दुर्जन कलि गुछिबे आचार।[9]

2. उत्तम नायक यदि हावे क्षीणबित।
एरिबेक ताक पुरातन यत भृत्य।।
यदि रोगी भैल भृत्य अनेक पुरुषी।
देखि स्वामी सबे ताक एरिबे नुपुसि।।[10]

तुलसीदास : 1. राजा-रंक रागी और बिरागी, भूरिभागी, ये
अभागी जीव जरत, प्रभाव कलि बामको।[11]

2. त्रिबिध एक बिधि प्रभु-अनुग अवसर काहिं कुठार।
सूधे टेढ़े, सम विषम, सब महँ बारहबाट।।[12]

सामाजिक जीवन के प्रत्येक घटक में वैमनस्य बढ़ रहा था। यहाँ तक कि सामाजिक जीवन की इकाई, यानी पारिवारिक जीवन में भी विषमता तथा विघटन के लक्षण दिखायी पड़ते थे। दोनों कवियो की रचनाओ में इस गंभीर विषय पर स्वाभाविक चिन्ता व्यक्त हुई है।

अनेक अध्येताओं ने तो ऐसा स्वीकार भी किया है कि विघटित होते हुए हिन्दू पारिवारिक जीवन को पुनर्संघटित करने की दिशा में तुलसी ने जो व्यावहारिक दृष्टि अपनायी, उसीका आदर्श 'रामचरितमानस' प्रस्तुत करता है। यद्यपि ऐसी बात शंकरदेव की किसी कृति विशेष के लिए नहीं कही जा सकती है, तथापि तत्युगीन कामरूप की स्थानीय विशिष्टताओं के अनुरूप उनकी रचनाओं में भी पारिवारिक आदर्श के कतिपय मान प्रस्तुत हुए हैं।

(ख) वर्ण : शंकरदेव और तुलसीदास की रचनाओं मे चारों वर्णो के सम्बन्ध में जो बातें मिलती हैं, वे कुछ तो पुराणाश्रित हैं और कुछ युगीन परिवेश के प्रतिबिम्ब स्वरूप। चारो वर्णो में ब्राह्मणों को सर्वाधिक महत्त्व मिला है। दोनो ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और महत्ता का अनेक विध उल्लेख किया है। यथा-

शंकरदेव : 1. ब्राह्मणगण मोर महा इष्ट।।
बिप्र सेवातेसे आमार ख्याति

2 पारन्त गालि यदि बिप्रे आसि
प्रणाम करै यिटो ताक हासि।।
सम्बोधि प्रबोधे साधु बचने।
करिलेक बश्य मोक सि जने।।[14]

तुलसीदास : 1. सापत ताड़त परुष कहंता।
बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।।[15]
2. मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुल द्रोही।[16]

ब्राह्मणों में भी ईश्वर भक्त और वैदिक आचारों को पालन करनेवाले ब्राह्मणों को दोनों ने अधिक महत्त्व दिया है। शंकरदेव ने हरि भक्ति से विमुख ब्राह्मणों की अपेक्षा विष्णु भक्त ब्राह्मणों को अधिक महत्त्व दिया है :

अनेक ब्राह्मण करंत तर्पण, निर्मल जलत पशि।
स्नान दान करि सुमरंत हरि, कतो काखरत बसि।।[17]

तुलसी की मान्यता भी ऐसी ही है-

तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी।
तिन्ह महँ निगम धरम अनुसारी।।[18]

कुछ अध्येताओं ने तुलसी साहित्य में ब्राह्मणों के सम्बन्ध में आयी उक्तियों की परीक्षा करने पर उन्हे ब्राह्मणो का वकील तक कहा है। इसका कारण संभवत. तुलसी की ऐसी उक्तियाँ रही हैं- 'पूजिअ बिप्र सील गुन हीना'[19] इत्यादि। किन्तु ऐसा निष्कर्ष देते समय आलोचक तुलसी की उन उक्तियो को अनदेखा करते हैं जहाँ वे ब्राह्मणों को 'श्रुति बेचक'[20] आदि कह कर उन पर प्रहार करते हैं। शंकरदेव की उक्तियों में भी वैसे ब्राह्मणो के प्रति अश्रद्धा व्यक्त हुई है जो ब्राह्मणत्व से पतित हो चुके हैं।[21]

वर्ण-व्यवस्था में समाज में ब्राह्मण के पश्चात् क्षत्रिय मान्य रहे हैं। शकरदेव और तुलसी के इष्टदेव श्रीकृष्ण एवं राम मानवीय रूप में क्षत्रिय कुल से ही सम्बन्धित हैं। अस्तु, उन दोनों को क्षत्रिय वर्ग के प्रतिनिधि के रूप मे भी स्वीकारा जा सकता है। उनकी रचनाओं में विभिन्न स्थलों पर क्षात्र धर्म विषयक अन्य सकेत भी मिलते हैं। दोनों ने क्षत्रिय के गुणो में निर्बलों की रक्षा,[22] प्रजापालन,[23] प्रतिज्ञापालन,[24] युद्ध-प्रस्तुति[25] इत्यादि के विपुल उल्लेख किये हैं।

वैश्य-वर्ग के सम्बन्ध में शंकरदेव और तुलसी की उक्तियाँ उनके व्यवसाय से सम्बन्धित मिलती हैं। धन-संग्रह की प्रवृत्ति और व्यापार में छलछद्म युक्त आचरण समाज का युगधर्म था। इस ओर दोनों की दृष्टि गयी है-

शंकरदेव : क्रय-बिक्रयतो होवे माया व्यवहार।[26]

तुलसीदास : प्रीति, सगाई, सकल गुन बनिज उपायँ अनेक।
कल बल छल कलिमल-मलिन डहकत एकहि एक।।[27]

शूद्र की स्थिति अति दयनीय थी। उन्हें शास्त्र अध्ययन का अधिकार प्राप्त नहीं था। शंकरदेव ने प्राचीन मान्यता को दोहराते हुए कहा है कि शूद्रों को वेदाध्ययन करने का अधिकार नहीं है।[28] तुलसी ने भी शील-गुणहीन विप्र से भी कम महत्त्व ज्ञान-गुण प्रवीण शूद्र को दिया है।[29] यद्यपि सामाजिक दृष्टि से प्राचीन मान्यता को स्वीकारते हुए शंकरदेव और तुलसी दोनो ने शूद्रों को महत्त्व नहीं दिया है, तथापि जिस भक्ति रूपी 'राज-डगर' को दोनों ने प्रशस्त किया उप पर चलने का सबको समान रूप से अधिकारी घोषित किया है-

शकरदेव : किरात कछारि खाचि गारो मिरि, यवन कंक गोवाल।
असम मलुक धुबा जे तुरुक, कुबाच म्लेच्छ चण्डाल।।[30]

तुलसीदास : स्वपच सबर खस जमन जड़ पावँर कोल किरात।
रामु कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात।।[31]

किन्तु यह ध्यातव्य है कि यह छूट दोनो ने केवल भक्ति तक ही सीमित रखी है। इन उक्तियों को सामाजिक-व्यवस्था का परिचायक नहीं माना जा सकता है। इनसे रोटी-बेटी के सम्बन्ध से कोई मतलब नहीं है।

विभिन्न सन्दर्भो से इस बात की पुष्टि होती है कि प्राचीन भारत मे नारियो की स्थिति मर्यादित एवं गौरवपूर्ण थी। किन्तु शंकरदेव और तुलसीदास के समय तक स्त्रियों की प्राचीन मर्यादा में ह्रास हो चुका था। भक्ति-साहित्य में वह 'माया' के रूप में भी मान्य हुई है। शंकरदेव और तुलसी ने भी उसे क्रमशः 'घोर नारीमाया सर्व मायात कुत्चित' और 'मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता'[32] कहा है। दोनो ने नारी-स्वातंत्र्य को भी अस्वीकार किया है-

शंकरदेव : स्वभावते तिरी जाति नुहि स्वतंतरी।[33]

तुलसीदास : जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारी।[34]

तात्पर्य यह कि दोनों की नारी विषयक दृष्टि कुछ तो पारम्परीण रही है और कुछ भक्ति के आदर्शों से अनुप्रेरित।

(ग) **नैतिकता** : शंकरदेव और तुलसीकालीन समाज में मानव-जीवन विशृंखलित तो हुआ ही था, उसका नैतिक अध:पतन भी हुआ था। अनैतिकता, वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक तीनों स्तरों पर बढ़ी हुई थी। तरह-तरह के चोरी छिनाली विकृत काम वासना स्त्री पराधीनता नारी की वेश्याई

प्रवृत्ति, झगडालू स्वभाव, मद्यपान इत्यादि का व्यापक रूप में प्रचलन नैतिक पतन के सूचक ही माने जायेंगे। शंकरदेव और तुलसी दोनों की रचनाओं में एतद्विषयक विपुल उल्लेख प्राप्त होते है।

शंकरदेव और तुलसी द्वारा वर्णित 'कलिकाल' यद्यपि पुराणाधारित है, पर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि उसमें तत्युगीन वास्तविकता की प्रतिच्छाया भी है-

शंकरदेव : 1. हुइबेक प्रचुर चोर डकाइत कलित।
पाषण्डे करिबे बेद पथक दूषित।
पाषण्डर मुखत शिखिबे धर्म ज्ञान।
कलित करिबे पाषण्डक बहुमान।।[35]

2. कुटुम्बी गृहस्थ सबे धरिबेक बेश।
छले भिक्षा मागि भ्रमिबेक देश देश।।
बनस्थ तपस्वी सबे हुइब ग्रामवासी।
महाधन लोभी हैब अनेक संन्यासी।।[36]

तुलसीदास :

1. बाढे खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा।।
मानहि मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहि सेवा।।[37]

2. सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी।।
जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना।।[38]

इसी प्रकार पाखण्डी आचारों में प्रवृत्ति,[39] ब्रह्म-हत्या,[40] ब्राह्मणों के घर चोरी,[41] अगम्यागमन,[42] हिंसा,[43] अतिथि के प्रति अनादर,[44] दंभियों में अहकार,[45] कुटिल स्वभाव की वृद्धि,[46] स्वार्थ युक्त प्रेम[47] इत्यादि के वर्णन भी तुलसी की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। उनमें मद्यपान और अफीम सेवन[48] जैसी बुराइयों के शिकार हुए विषयगामी बननेवालों का भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।

नैतिक अध.पतन का सबसे प्रधान कारण दोनों ने वामाचार को माना है। इस प्रसंग में दोनों ने कामातुरों और नारियों के चरित्र-स्खलन के विस्तृत वर्णन किये हैं-

शंकरदेव :

1. कलित हैबेक लोग स्त्री-पराधीन।[49]

2 रतित कुशल यिटोजन अनाचारी
ताके से पुरुष बुलिबेक दुष्टा नारी

रति सुशिक्षिता यिटो दुष्टा मन पूरे।
स्त्री बुलि ताके मानिबेक कामातुरे।।
कुल स्त्रीको एरि ताते करिबेक रति।
निज पति तेजि ताके मानिबेक पति।।[50]

3. क्षणेके हरिष शोक क्षणेके आकुल।
कामातुरा हुया नबाछिबे जाति कुल।।
परदारा गमन पातेके हुइबे भ्रष्ट।
आति क्षुद्र आयु अल्प काले जाइबे नष्ट।।[51]

तुलसीदास :

1. नारि बिबस नर सकल गोसाई। नाचहि नट मर्कट की नाई।।
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना।।[52]
2. सब नर काम लोभ रत क्रोधी। देव बिप्र श्रुति संत बिरोधी।।
गुन मंदिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी।।[53]
3. पर त्रिय लपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने।
तेह अभेदबादी ग्यानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर।।[54]

अत:, शंकरदेव की 'गुचिबे आचार धर्म हुइबेक दुर्मति'[55] तथा तुलसीदास की 'भए बरन संकर कलि'[56] अथवा 'नहिं मानत कौ अनुजा तनुजा'[57] जैसी उक्तियाँ तत्युगीन नैतिक अध.पतन की पराकाष्ठा का यथार्थ निदर्शन है।

(घ) अर्थ लोलुपता : तत्कालीन समाज आर्थिक दृष्टि से भी विपन्न हो गया था। तुलसी ने 'आगि बढवागि ते बडी है आगि पेट की'[58] की घोषणा कर जहाँ जीवन-यापन के लिए अर्थ का महत्त्व घोषित किया, वहीं यह भी संकेतित कर दिया कि तत्कालीन समाज में अर्थाभाव के कारण अनगिनत व्यक्ति भूखे मर रहे थे। शंकरदेवकालीन असम की स्थिति इससे बहुत भिन्न नहीं थी। उस समय राजा और राजन्य-वर्ग आर्थिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न था। भोग के सारे साधन उन्हे उपलब्ध थे। समाज में इस वर्ग की प्रतिष्ठा अधिक थी। धन प्राप्ति के लिए यह वर्ग कोई भी निन्दनीय कर्म अथवा किसी भी प्रकार की चतुराई करने से नहीं चूकता था। दूसरा वर्ग दरिद्रो का था जिसमे सामान्य प्रजा (किसान, मजदूर आदि) के अतिरिक्त साधु-सन्यासियों को भी मानना होगा। यह वर्ग अपेक्षया सदाचारी जीवन व्यतीत करता था एवं अपने योग्य श्रम के बावजूद विविध मजबूरियों से छुटकारा नहीं पा रहा था। पहला वर्ग था शोषक और दूसरा शोषित। तत्कालीन शब्दावली मे इन्हे ही क्रमश स्वामी और सेवक कहा गया है पहले उनमे अधिक दूरी नहीं

थी, पर अब स्वामी-सेवक में खाई बढ़ती जा रही थी।

शंकरदेव और तुलसी दोनों ने स्वामी-सेवक भाव की भक्ति के माध्यम तत्कालीन समाज में स्वामी और सेवक के मध्य बढ़ती हुई खाई को पाटने अभिनव प्रयास किये हैं। तत्कालीन सामान्य जन के दारिद्र्य के अनेकविध सव दोनों कवियों में मिलते हैं। आगे दोनों की कुछ पंक्तियाँ उदाहृत की जाती है-

शंकरदेव :

1. अति दीन दुखी वित्त नुहिबे प्रचुर।[59]
2. नुहुइबेक बसन भूषण अन्न पान।।
   शुकाइबे शरीर एको नापाइबे आहार।
   हुइबेक कलित लोक पिशाच आकार।।
   सुहृद सोदर एको नाबाछिबे चिते।
   करिबे कन्दल पांच गंडार निमित्ते।।
   सुहृदक बांधिबे धनर निदाने।।[60]
3. मिछा माति साउदे करिबे किना बिका।
   जीवे सम्पदतो करि निन्दित जीविका।।[61]
4. घोर कलियुगे जिटोजन धनवन्त।
   सेहिसे कुलीन सदाचारी गुणवन्त।।[62]

   अथवा

   करै अकार्यक जेन धनर गर्वत।[63]

तुलसीदास :

1. दारिदी-दुखारी देखि भूसुर भिखारी-भीरू
   लोभ मोह काम कोह कलिमल घेरें हैं।[64]
2. खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
   बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
   जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच-बस,
   कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई, का करी ?'[65]
3. मारग मारि, महीसुर मारि, कुमारग कोटिक कै धन लीये
4. सोचिअ बयसु कृपन धनवानू।
   जो न अतिथि सिव भगति सुजानू।।[67]

(ङ) दैनन्दिन शंकरदेव और तुलसी की रचनाओं में दैनन्दि व्यवहार मे आनेवाली विभिन्न वस्तुओ के उल्लेख हुए हैं विभिन्न प्रसगो मे वि

प्रकार की भोजन सामग्री के साथ ही दैनन्दिन उपभोग में आनेवाली सौन्दर्य-प्रसाधन की वस्तुओं में फूल, चन्दन, ताम्बूल, कस्तूरी, अगरु आदि भी उल्लिखित हुए हैं।[68] घरेलू उपकरणों में ऊखल, मथानी, विभिन्न प्रकार के मिट्टी निर्मित भाण्ड हण्डिका, घड़े इत्यादि के उल्लेख मिलते हैं।[69] सोने-चाँदी से निर्मित थाल और कलश इत्यादि के भी उल्लेख हुए है।[70] यातायात के लिए राजे-राजन्यवर्ग, सामंत इत्यादि विविध प्रकार के वाहनों का उपयोग करते थे। उनमें मुख्यत: हाथी और घोडे की सवारी के उल्लेख मिलते हैं।[71] रथों एवं दिव्य-रथों के भी उल्लेख हुए हैं।[72] लंका-विजय के पश्चात् अपने पक्ष के लोगों के साथ राम 'पुष्पक विमान' से अयोध्या लौटते हैं। 'विमान' का उल्लेख मानवीय वाहन के[73] रूप में शंकरदेव ने भी किया है, किन्तु वह अतिशयोक्ति जैसा लगता है। विमान का उपयोग दोनो कवियो ने मुख्यत: देव-वाहन के रूप में ही किया है। सभ्रान्त घर की महिलाएँ वाहन के लिए 'दोला' या 'पालकी' का व्यवहार करती थीं।[74] शंकरदेव ने 'दोला' के लिए 'नरयान'[75] शब्द का भी प्रयोग किया है। शंकरदेव ने ऐसे भी प्रसंग उपस्थित किये है जिनमे राज परिवार की महिलाएँ भी पैदल यात्रा करती हैं। भवानी की पूजा के निमित्त रुक्मिणी अंग-रक्षको के साथ पैदल जाती हुई वर्णित हुई है।[76] दैनिक उपयोग की वस्तुओं में पुरुष और नारी के विभिन्न वस्त्राभूषण भी आते हैं, जिनकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है।

दैनिक उपयोग की वस्तुओ में निवास-स्थान अथवा घर का विशेष महत्त्व है। मानवीय निवासो में शंकरदेव और तुलसी की दृष्टि मुख्यत: नगरों और राज-महलो पर गयी है। ऐसा अनुमान करना गलत नहीं होगा कि शंकरदेव और तुलसी द्वारा वर्णित नगरो- कुण्डिलपुर, द्वारका, मथुरा, अयोध्या, जनकपुर, लंका इत्यादि पर तत्युगीन उन्नत वास्तुकला- मुगल शासन में निर्मित आलीशान किले और मकबरे एवं कोंच राजाओं द्वारा निर्मित भव्य मन्दिरों, राज प्रसादों इत्यादि की प्रच्छाया है। इस दृष्टि से कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

शंकरदेव : रत्नमय गृहसब करे जातिष्कार।
नाहि खेर बेत बाँस काष्ठर संचार।।
एको एको गृह मेरु समान उच्छृत।
हीरा मणि मरकत माणिके गठित।।
कत रजतर कतो शुद्ध सुवर्णर।
चिकमिकि करे येन कान्ति आदि यर[77]
मनि दीप राजहिं भवन भ्राजहि देहरी बिद्रम रची

मनि खभ भीति बिरचि बिरची कनक मनि मरकत खची
सुदर मनोहर मदिरायत अजिर रुचिर फटिक रच
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि खचे। [78]

इससे मिलते-जुलते वर्णन ही कई स्थलों पर हुए हैं। तुलसी ने प्राय. 'मंगलमय मदिर सब केरे। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे'[79] और 'चारु चित्रसाला गृह गृह प्रति लिखे बनाई'[80] जैसे कथन किये हैं। शंकरदेव में भी प्राय· इससे मिलते जुलते ढंग के ही कथन हैं।

राज-महलो और नगरों के भव्य-वर्णनों से ऐसा समझना गलत होगा कि भारत की सर्व-सामान्य जनता के घर भी वैसे ही भव्य होंगे। वस्तुत. उस समय की कौन कहे, आज भी अनगिनत जनता खरपात से छाये मिट्टी के घरो मे ही गुजर-बसर करती है। वस्तुत: आश्चर्य का विषय है कि इन कवियों का ध्यान केवल अपने इष्टदेवो के महलों अथवा राज-निवासों तक ही सीमित रहा है। यों दोनों की रचनाओं में यत्र-तत्र पर्ण कुटीरो और बॉस-बेत से बने घरो के सकेत भी हो गये है, पर मूलत· वे उपेक्षित ही रहे हैं।

रीति-रिवाज और आचार-व्यवहार

यों तो सम्पूर्ण हिन्दू समाज में रीति-रिवाज और आचार-व्यवहार मोटे तौर पर समान प्रकार के ही है, पर अचल और जाति-विशेष मे उनमे किंचित् अन्तर मिलते हैं। शंकरदेव और तुलसी- कालीन परिवेश मे भी अधिकांश रीति-रिवाज और आचार-व्यवहार समान प्रकार के ही थे, पर अंचल-भेद के कारण उनमे कुछ अतर भी थे। उनके प्रतिबिम्ब दोनों की रचनाओ में अनेक विध देखे जा सकते है।

(क) **अभिवादन** : अभिवादन के विभिन्न रूप प्रचलित थे। इसके लिए विविध प्रकार के शब्द प्रयुक्त होते थे और कभी-कभी विशेष प्रकार की अग-भंगी भी उपस्थित की जाती थी। 'नमो', 'नमस्ते', 'नमस्कार', 'प्रणाम' इत्यादि अभिवादन सूचक शब्द दोनों में उपलब्ध है।[81] पूज्य व्यक्तियों तथा देवताओं के लिए साष्टांग दडवत् चलता था।[82] छोटो के लिए 'आशीर्वचन', 'आशीर्वाद', 'चिरंजीवि', 'दीर्घायु' आदि मगलपरक शब्दों के प्रयोग होते थे।[83] श्रद्धा प्रदर्शन तथा अभिवादन के लिए कतिपय शारीरिक क्रियाएँ जैसे, चरण धूल लेने,[84] चरण पखारने, चरण छूने,[85] हृदय से लगाने,[86] गले से लगाने,[87] प्रदक्षिणा करने[88] इत्यादि के प्रचलन थे।

अभिवादन की ये पद्धतियाँ हिन्दू समाज में सामान्य रूप में प्रचलित थीं। उत्तर-भारत मे हिन्दू समाज के अतिरिक्त जो मुस्लिम वर्ग था उनकी अभिवादन पद्धति भिन्न थी वैसे ही   मे बसी विभिन्न आर्येतर गोष्ठिया म भी अभिवादन

की पद्धति भिन्न ही रही होगी, किन्तु एतद्विषयक संकेत न तो तुलसी में प्राप्त होते है और न शंकरदेव में। इसका कारण यही अनुमित किया जायेगा कि तुलसी और शकरदेव द्वारा वर्णित परिवेश हिन्दू परिवेश है, हिन्दूतर नहीं।

(ख) शिष्टाचार : अभिवादन की अगली कड़ी में कुछ अन्य लोकाचार और शिष्टाचार आ जुडते है। कुशल-क्षेम पूछना, अभ्यागत का स्वागत करना, सम्माननीय व्यक्तियों से बात करते समय हाथ जोडना, सिर नवाना, ब्राह्मण अथवा बूढ़े-बुजुर्गो का आशीर्वाद देते समय हाथ ऊपर उठाने, अभ्यागतों एवं प्रियजनों की अगवानी करने, छोटों को स्नेह सहित चूमने इत्यादि जैसे लौकिक आचारों के उल्लेख दोनो मे मिलते है।[89] भारतीय संस्कृति में अतिथियों को 'देव' कहा गया है। अत:, स्वभावत उनके प्रति विशेष सम्मान प्रकट करने के उल्लेख दोनो मे मिलते है। इस दृष्टि से उन्हे ससम्मान आसन पर बैठाने पाद्य-अर्घ्य से पूजने, उनके समक्ष मूल्यवान वस्तुओं को समर्पित करने इत्यादि के संकेत दोनों ने किये हैं। कार्य-सिद्धि के लिए अपरिचितों अथवा श्रद्धास्पद लोगों से बात करते समय अपनी विनम्रता सूचित करने के लिए 'कृपा करने', 'उद्धार करने', जैसे शब्दो के प्रयोग भी होते थे। बात-चीत के बीच भी योग्यता और कर्मानुसार व्यक्तियों को सम्बोधित किया जाता था। 'देव', 'बाप', 'आर्य', 'नाथ', 'तात' जैसे उत्तम[90] एव 'दुष्ट', 'खल', 'अधम 'पापी' जैसे निकृष्ट सम्बोधन[91] दोनो की रचनाओं में प्रयुक्त हुए हैं।

(ख) भोजन : भोजन विषयक उल्लेख के अन्तर्गत भोजन-सामग्री के ही उल्लेख प्राय. दोनों कवियो की रचनाओ मे मिलते हैं। भोजन दिन मे सामान्यतया कितनी बार किया जाता था, परिवार के सभी सदस्यों का भोजन एकसाथ होता था अथवा नही जैसे विविध विषयो के संकेत दोनों मे प्राय नही मिलते है। उल्लिखित सूचनाओं के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि अतिथियों के लिए अथवा पर्व-त्यौहार के दिनों भोजन का प्रबन्ध विशेष रूप से किया जाता था। भोजन-सामग्री के अन्तर्गत प्राय. विस्तार न करते हुए दोनों ने विविध प्रकार के भोजन, व्यजन सहित भोजन, कंद-मूल-फल अर्पण, पचामृत भोजन जैसे शब्द प्रयोग किये है।[92] शकरदेव में ईक्षु, चूडा, आखै, दधि, दुग्ध, संदेश, पिठा, परमान, चीनी, लड्डू इत्यादि के अलग-अलग उल्लेख मिलते है।[93] तुलसी ने राम-विवाह के अवसर पर बारातियो के भोजन कराये जाने का विस्तृत वर्णन तो किया है, किन्तु भोज्य-सामग्री के अलग-अलग नाम नहीं गिनाये हैं। भोजनोपरात ताम्बूल अर्पण करने का उल्लेख शकरदेव ने कई स्थलों पर किया है,[94] जिसके मूल में असम में ताम्बूल-भक्षण का प्रचलन ही रहा होगा भोजन के द्वारा अतिथियो को सतुष्ट करना गृहस्थ

जीवन मे एक पवित्र एव मागलिक आचार समझा जाता है इस स्थिति का प्रतिबिम्ब दोनो की रचनाओ मे समान रूपेण प्राप्त होता है

(ग) उपालम्भ : सामाजिक जीवन में किसी भी प्रकार से हानिकारक या दुखदायक व्यक्ति को हानि पहुँचा सकने में असमर्थता होने पर खीझ उत्पन्न होती है और तब व्यक्ति निन्दा अथवा उपालम्भ का सहारा लेता है। शकरदेव और तुलसी की रचनाओं में ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध होते है जहाँ इनके रूप देखे जा सकते है। उदाहरणार्थ, शांकरी साहित्य में गोपियो द्वारा यशोदा से कृष्ण की शिकायत, 'पारिजात हरण' नाटक मे नारद द्वारा रुक्मिणी को पारिजात फूल दिये जाने पर कृष्ण से सत्यभामा की शिकायत, 'उत्तरकाण्ड रामायण' मे सीता के विरुद्ध शिकायत इत्यादि देखे जा सकते है। तुलसी साहित्य से भी ऐसे कतिपय प्रसग सकेतित किये जा सकते हैं। यथा- भरत का राम से माता की शिकायत, विभीषण का राम से रावण की शिकायत, शूर्पणखा का रावण से राम की शिकायत इत्यादि।

(घ) संस्कार : हिन्दू जीवन मे अति प्राचीन काल से ही सस्कारो के पालन करने का विधान रहा है। विभिन्न स्मृतिकारो ने संस्कारों की अलग-अलग संख्याएँ दी हैं। गौतम के अनुसार कुल संस्कार चालीस होते हैं। उनमे से व्रत और यज्ञो से सम्बन्धित संस्कारो को निकाल देने पर उनकी सख्या दस हो जाती है- गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकरण, नामकरण, अन्नप्रासन, चूड़ाकरण उपनयन, समावर्तन और विवाह[95]। कई स्मृतियों मे षोड्ष संस्कारों के उल्लेख हैं। उनमें से यदि वेद चतुष्टय विषयक संस्कारों को निकाल दिया जाय तो इनकी संख्या बारह होती हैं- गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकरण, नामकरण, अन्नप्राशन कर्णविध, चूड़ाकरण, उपनयन, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि। इनमें से शंकरदेव और तुलसी की रचनाओं में अधिकांश के मात्र सकेत मिलते हैं। विस्तृत वर्णन मूलत: विवाह- सस्कार का मिलता है। आगामी पक्तियो में कतिपय संस्कार विषयक आवश्यक उल्लेख किये जाते हैं।

गर्भाधान : शंकरदेव और तुलसी दोनों ने 'गर्भाधान' के संकेत मात्र किये है,[96] वर्णन नहीं। इसके विपरीत दोनों की रचनाओं में संतानोत्पत्ति के अवसर पर उत्सव (जन्मोत्सव) मनाये जाने के विस्तृत वर्णन हुए हैं। इस दृष्टि से शकरदेव द्वारा वर्णित कृष्णजन्मोत्सव और तुलसीदास द्वारा अंकित रामजन्मोत्सव देखे जा सकते हैं[97]।

जातकर्म · शिशु जन्म के पश्चात् मनाये जानेवालो संस्कारों में जातकर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है इसमे प्राय नाडीछेद शिशुस्नान शिशु मुख मे दधि और

मधु का दान, स्तन-दान इत्यादि के विधान हैं। शंकरदेव और तुलसी द्वारा वर्णित जातकर्म संस्कार मे उबटन-आलेप के पश्चात् शिशु-स्नान[98] और आनन्दोल्लास इत्यादि के वर्णन हैं। तुलसी ने इस अवसर पर 'छठी' और 'बरही' मनाये जाने, छठी की रात मे जागरण करने इत्यादि के भी वर्णन किये है।[99] असम में 'छठी' और 'बरही' नहीं मनाये जाते हैं। शंकरदेव की कृतियों में इसके उल्लेख नहीं होने का कारण संभवत: यह भी हो सकता है।

नामकरण : नामकरण संस्कार जन्म के सामान्यत: आठवें या दसवें दिन किया जाता है किन्तु निश्चित तिथि या समयाबधि का उल्लेख दोनों में से किसी ने नहीं किया है। तुलसी ने नामकरण संस्कार के लिए उचित दिन का शोधन अवश्य करवाया है।[100] यों दोनों कवियों द्वारा नामकरण-सस्कार का उत्सव के रूप में ही वर्णन हुआ है।[101]

कर्णविध : कर्णविध का उल्लेख तुलसी में हुआ है,[102] शंकरदेव में नहीं।

चूड़ाकर्म : चूडाकर्म सस्कार का वर्णन किसी ने नहीं किया है, दोनों ने उसकी केवल सूचना दी है। तुलसी ने उसके लिए 'चूडाकरन' और शकरदेव ने 'जातकर्म' शब्द प्रयुक्त किया है।[103]

उपनयन : शंकरदेव ने 'यज्ञसूत्रदान' (यज्ञोपवीत) और तुलसी ने 'उपबीत का उल्लेख भर किया है।[104] इसी क्रम में दोनों ने विद्यारंभ के उल्लेख भी किये है।[10

विवाह : विवाह-संस्कार के वर्णन शंकरदेव और तुलसीदास ने अपेक्षया अधिक विस्तार से किये है। शकरदेव की रचनाओ मे श्रीकृष्ण के विभिन्न विवाहो के संकेत भर हुए है किन्तु श्रीकृष्ण-रुक्मिणी विवाह को बहुत अधिक विस्तार मिला है। उक्त प्रसंग पर उन्होंने 'रुक्मिणी-हरण' नामक से स्वतत्र-पुस्तकों (काव्य और नाटक) की रचनाएँ की हैं। 'राम विजय नाट' मे उन्होने राम और सीता के विवाह का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

तुलसी ने अपनी रचनाओं में राम-सीता और शिव-पार्वती के विवाह-वर्णन मे रुचि दिखायी है। ये वर्णन 'रामचरितमानस' मे तो आये ही है, इन प्रसगो पर उन्होंने 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' जैसी स्वतंत्र पुस्तको की रचनाएँ भी की है। विवाह के एक लौकिक आचार 'नहछू' को भी उन्होंने स्वतत्र काव्य का विषय बनाया है। 'गीतावली' और 'कवितावली' मे भी यथास्थान राम-विवाह को महत्त्व मिला है।

दोनो कवियो द्वारा वर्णित विवाह प्रसग के तुलनात्मक अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि कछ बाते समान रूप मे दोनो मे वर्णित हई हैं इस दृष्टि से लग्न

निर्णय,[106] बरात-यात्रा,[107] अगवानी,[108] कुलगुरु पूजन,[109] होम-मत्रोच्चारण,[110] मगल-गीत व वाद्य,[111] नगर-सजावट,[112] दहेज,[113] आतिथ्य,[114] कन्यादान,[115] आरती के साथ वर-वधू का गृह प्रवेश[116] और वधू को आशीर्वाद प्रदान[117] इत्यादि उदाहृत किये जा सकते हैं। इस अवसर पर विविध मांगलिक वस्तुओं के उल्लेख भी हुए हैं। शंकरदेव ने सुगंधित चदन, सिन्दूर, नेत वस्त्र, स्वर्ण घट, फूल, प्रदीप, धूप, कुश, तिल इत्यादि के नाम गिनाये हैं।[118] तुलसी में मांगलिक द्रव्यो का उल्लेख इस प्रकार मिलता है-

हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगल मूला।।
अच्छत अंकुर लोचन लाजा। मजुल मंजरि तुलसि बिराजा।।[119]

इस क्रम मे बरात के स्वागत-सत्कार इत्यादि का भी विस्तृत वर्णन दोनों मे मिलते हैं। भोजनोपरांत मुखशुद्धि के रूप में 'ताम्बूलपान' का विधान दोनो ने किया है।[120] कुछ ऐसी भी बातें और लौकिक आचार वर्णित है जो दोनो मे भिन्न-भिन्न है। यथा- शांकरी साहित्य में

उरुलि (उलूध्वनि) · महिलाओ द्वारा मांगलिक अवसरों पर की जानेवाली उलूध्वनि ही 'उरुलि'[121] या 'जोकार'[122] है। इसका उल्लेख 'अनर्घराघव'[123] और 'नैषधीय चरित'[124] में भी हुआ है।

अधिबास : विवाह के पूर्व दिन को अधिवास कहा जाता है। इस दिन वर-वधू को कतिपय विधि-निषेध पालन करने पडते है। साथ ही कुल देवता का पूजन पुरोहित द्वारा घट-स्थापन, मंत्रोच्चारण, मागलिक गीत एव उलूध्वनि, उबटन इत्यादि के विधान भी इस दिन किये जाते हैं। 'रुक्मिणी हरण' नाट में अधिवास के दिन ही रुक्मिणी को देवी भवानी की पूजा करने के लिए कहा गया है- 'आजु अधिवासु, कालि विवाहक दिवस, देवीक पूजा कर गिया।'[125]

मुखचन्द्रिका : विवाह विधि के अवसर पर पहली बार वर-वधू परस्पर शुभ-दृष्टि फेरते हैं। स्थानीय रीति में यही मुख-चन्द्रिका है। कृष्ण-रुक्मिणी[126] और 'राम-सीता'[127] के विवाह के अवसर पर शकरदेव ने मुखचन्द्रिका का विधान किया है।

केश-बन्धन : इसमें वर-वधू के केशो को एकत्र बांधने के वर्णन हुए है। संभवत· यह वर-वधू के एकत्रीकरण का प्रतीक है। शंकरदेव ने केश-बंधन के साथ ही वर-वधू पर पानी ढालने का भी उल्लेख किया है-

(क) सोहि समये राजा भीष्मके कन्या सम्प्रदान करिते बर कन्याक केश एक थाम करियेकहो पानी ढालिले येचे कौतुक मिलल।[128]

ख विश्वमित्र कुशण्डि करिय होम सोहि समये उर कश

एक ठाम करिये पानी ढालिते ब्रह्म, इन्द्र, रुद्रादि देवतासब यैचन आनन्द मिलावल।[129]

कुसुम शैय्या : शकरदेव की रचनाओ में विवाहोपरांत वर-वधू की विभिन्न क्रीडाओं के साथ ही श्रैंगारिक क्रीड़ाओ के भी वर्णन हुए है।[130] यद्यपि इसके लिए उन्होंने किसी पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है, किन्तु श्रैंगारिक क्रीडाओ के वर्णन से स्पष्ट है कि वह कुसुम-शैय्या के अंग के रूप मे वर्णित हुआ है। रात्रि-क्रीड़न के पश्चात् प्रात.काल स्नान-दान आदि का विधान होता है। इस दिन की स्थानीय संज्ञा 'बासी बिया' है। इसका नामोल्लेख शंकरदेव की रचनाओ मे नहीं हुआ है।

तुलसी साहित्य में :

तुलसीदास की विभिन्न रचनाओं में विवाह-वर्णन के जो भी प्रसंग आये है यदि उनमें से वर्णित एक-एक विधि और सारे वैदिक और लौकिक आचारों को क्रमबद्ध रूप में उपस्थित किया जाये तो वर्तमान समय में उत्तर-भारत के गॉवों में प्रचलित वैवाहिक विधि का एक विश्वसनीय और यथार्थ चित्र खडा हो जाता है। शंकरदेव के विवाह-वर्णनों में पुराणो के अनुसरण और देवताओं के सगम उपस्थित करने से वास्तविकता की जगह अलौकिकता अधिक आ गयी है। तुलसी ने जिन लौकिक आचारों के वर्णन किये हैं उनमें से कुछ के यहाँ सकेत भर किये जाते हैं। यथा- द्वाराचार, परिछन, विवाह के अवसर पर गाली गीत,[131] कोहबर[132] (कोष्ठवर), द्यूत क्रीडा,[133] लहकौर (लघु कौर), ज्यौनार,[134] कन्या की विदाई,[135] वधू-स्वागत,[136] चतुर्थी[137] इत्यादि।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि शंकरदेव और तुलसी द्वारा वर्णित विवाह-संस्कार अपेक्षया विस्तृत तो हैं ही, उनमें वैदिक कृत्यों के साथ ही अनेक स्थानीय लौकिक आचारो के समावेश हुए हैं। इनसे वर्णन में विश्वसनीयता और यथार्थवादिता आयी है। इस दृष्टि से तुलसी के वर्णन शकरदेव के वर्णनों की अपेक्षा जन-जीवन के अधिक निकट हैं।

अन्त्येष्टि संस्कार : अन्त्येष्टि मानव जीवन का अंतिम संस्कार है। इसके अन्तर्गत सामान्यत: दाह-पूर्व शव-स्नान, चिता-निर्माण, सुगन्धित द्रव्यों का चिता और शव पर छिड़काव, तर्पण आदि वर्णित होता है। शकरदेव और तुलसी की रचनाओं मे कुछ व्यक्तियो की अन्त्येष्टि के उल्लेख भर हुए हैं। यथा- पूतना, कस यादव, बालि, राक्षसादि।[138] इसके विपरीत कुछ की अन्त्येष्टि के वर्णन विस्तारपूर्व भी हुए है इस दृष्टि से शकरदेव द्वारा अकित राहित का अन्त्येष्टि और

तुलसी द्वारा वर्णित दशरथ एव जटायु क सस्कार देखे जा सकते हैं

पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, अन्नप्राशन और समावर्तन के उल्लेख अथवा वर्णन शकरदेव और तुलसी में नहीं मिलते हैं।

पर्व-त्यौहार . पर्व-त्यौहार मूलत सामाजिक-व्यवस्था एवं विशिष्ट धार्मिक कृत्यो से सम्बन्धित और उसकी गतिमानता के सूचक होते हैं। इनमें से कुछ पर्व-त्यौहारों की ख्याति सर्व भारतीय होती है तथा बहुत सारे त्यौहारो को आचलिक रूप ही प्राप्त हो पाता है। शंकरदेव और तुलसी की रचनाओं में मूलत उन पर्व-त्यौहारों को ही महत्त्व मिला है, जिनका किसी-न-किसी रूप में धर्म से सम्बन्ध है। इस दृष्टि से शंकरदेव की रचनाओ में उल्लिखित वैशाखी, ज्येष्ठी रास-क्रीड़ा, फाल्गुनी उत्सव एवं तुलसी द्वारा वर्णित हिंडोला, दीपमालिका और होली के नाम गिनाये जा सकते हैं।

असम में बैसाख मास की संक्रान्ति बड़ी धूमधाम से मनायी जाती है। इसी की स्थानीय आख्या 'बिहू' है। शकरदेव के समय मे यह उत्सव संभवत मनाया जाता होगा, किन्तु उन्होने इसके सामाजिक पक्ष पर ध्यान न देते हुए उसे धार्मिकता से जोड दिया है। इसका उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है- 'विशुदिना बिधिमते पच तीर्थ करि। शुद्धमते देखय सुभद्रा राम हरि।।'[140]

ज्येष्ठी के सम्बन्ध में शंकरदेव की उक्ति है कि ऋक्षयोग और नक्षत्र संयोग के अवसर पर महाज्येष्ठी अत्यन्त पवित्र होती है। इस अवसर पर उन्होंने विष्णु-क्षेत्र के दर्शन से इक्कीस कुलो के उद्धार होने का उल्लेख किया है।[141]

शंकरदेव ने शारदीय रास-क्रीड़ा का वर्णन भागवत के अनुरूप बडे विस्तार से किया है।[142] इस क्रीडा को उन्होंने 'कामजय' स्वीकार किया है। असम में रासोत्सव को धार्मिक महत्त्व मिल जाने के कारण आज भी विभिन्न नगरों में इसके आयोजन बडे धूमधाम से होते हैं। तुलसी ने 'रास-क्रीडा' का वर्णन नहीं किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि तुलसीकालीन उत्तर भारत में राम-लीला प्रचलित नही थी अथवा उससे वे परिचित नहीं थे।

तुलसी ने 'हिंडोला', दीपमालिका' और होली' के वर्णन किये हैं। उनके राम-सीता अन्य स्त्रियों के साथ हिंडोले पर झूलते हैं।[143] उत्तर-भारत मे सावन मे हिडोले का आयोजन किया जाना आम बात है। तुलसी द्वारा उसे स्वीकार किया जाना उनकी लोकदृष्टि का परिचायक है। वर्तमान असम में भी सावन के महीने मे श्रीकृष्ण की मूर्तियों को झूले पर झुलाने की प्रथा प्रचलित है, किन्तु शांकरी साहित्य में उसका उल्लेख न होना ऐसा अनुमित करने को बाध्य करता है शायद

उस समय यह प्रथा नहीं रही होगी। शंकरदेव ने 'दीपावली' मनाये जाने का भी उल्लेख नहीं किया है किन्तु तुलसी ने 'दीपावली' के अवसर पर अयोध्या की सजावट का वर्णन एक पूरे पद में किया है[144]। आनन्द और उल्लास के पर्व के रूप मे वसन्तोत्सव अथवा होलिकात्सव के वर्णन दोनों की रचनाओं में प्राप्त होते हैं-

शंकरदेव : रगे फागु खेले चैतन्य बनमाली।
दुहाते फल्गुर गुंडा सिंचंत मुरारी।।[145]

तुलसीदास : नगर-नारि-नर हरषित सब चले खेलत फागु।

....

खेलत फागु अवधपति अनुज-सखा सब संग।।[146]

आजकल असम में यह उत्सव 'दौल-यात्रा' के रूप में आयोजित होता है।। शकरदेव ने उस ओर भी सकेत किया है-

फाल्गुनीत गोविन्दक तुलिया दौलत।
दौलयात्रा करै महोत्सब सिबेलात।।[147]

इस उत्सव के वर्णन में परस्पर अबीर डालने, पिचकारियों से रंग छोड़ने मृदग, डफ, करताल आदि विभिन्न वाद्यों के साथ होली गीत गाने, परस्पर हँसी-मजाक और परिहास करने और गाली देने इत्यादि के उल्लेख हुए हैं।

लोक-विश्वास : शास्त्रीय आचारों के अतिरिक्त प्रत्येक समाज मे कुछ लोक-विश्वास भी प्रचलित होते हैं। सामान्य जनता का जीवन उससे ज्यादा प्रभावित रहता है। शंकरदेव और तुलसी दोनों का ध्यान तद्युगीन समाज में प्रचलित वैसे बहुत सारे लोक-विश्वासों की ओर गया है और काव्य-रचना में प्रसंगानुरूप उन लोक-विश्वासों का कथन भी हुआ है। वे विश्वास कुछ तो धार्मिक प्रसंग से गृहीत है और कुछ लोक-जीवन के दीर्घ और तीव्र अनुभवों पर आधारित। जिन धार्मिक विश्वासों से आलोच्य कवियों की साम्प्रदायिक भक्ति-भावना का तनिक भी विरोध दीखा है उन्हें स्थान नहीं दिया गया है, पर व्रत-उपवास, सत्संग आदि धार्मिक महत्त्व के सर्व-सामान्य विश्वासों को दोनो ने स्वीकार किया है।

शंकरदेव में 'एक देव' का साग्रह कथन होने के कारण सामान्य जन द्वारा पूजित लोक-देवों, भूत-प्रेत आदि की पूजा का विरोध ही अधिक मिलता है जबकि तुलसी ने ऐसे स्थलों पर साम्प्रदायिक सीमाओं से अपेक्षया हटकर लोकभावना को अधिक महत्त्व दिया है। उनकी रचनाओं में अंकित विभिन्न लोकदेवों की पूजा-उपवास को इसी सन्दर्भ में समझा जा सकता है।

धर्मेतर लोक-विश्वासो मे भाग्यवाद[148] ज्योतिष का महत्त्व[149] टोना टोटका[15

दुष्ट-दृष्टि और दुष्ट-ग्रहों से रक्षार्थ बालकों के लिए रक्षाकवच इत्यादि की व्यवस्था शुभ तथा अशुभ शकुन,[151] स्वप्न, अभिशाप,[153] आशीर्वाद[154] इत्यादि के उल्लेख दोनों की रचनाओं में हुए हैं। इनके सम्बन्ध में दोनो की दृष्टि प्रायः समान है।

मनोरंजन : शंकरदेव और तुलसी की रचनाओं में तत्कालीन समाज के विभिन्न आयुवर्ग में प्रचलित मनोरंजन के विविध रूपों और साधनों के भी उल्लेख हुए हैं। नर-नारी के नृत्य और मल्ल-क्रीड़ा जैसे आयोजन जहाँ सभी का मनोरंजन करने में समर्थ हैं, वहॉ मृगया और चौगान के खेल पुरुषों तक ही सीमित माने जायेंगे। छोटे-बच्चों की क्रीड़ाओं में बड़े लोग केवल दर्शक हो सकते हैं, खेल मे प्रत्यक्ष भाग नहीं ले सकते हैं। कुछ सामाजिक उत्सवो का सम्बन्ध भी मनोरंजन से जुडा रहता है।

बच्चों की क्रीड़ा एवं मनोरंजन के रूप में आलोच्य कवियों के श्रीकृष्ण और राम की बाल-लीलाओं-आंगन में ठुमकने,[155] किलकने,[156] घुटने टेककर चलने[157] के कुछ वर्णन देखे जा सकते हैं। शंकरदेव के श्रीकृष्ण की माखन-चोरी,[158] गो-चारन,[15] वशी वादन,[160] फल से लदे वृक्षों पर गुंठली फेंकने,[161] जल-विहार करने[162] इत्यादि एव तुलसी के राम के गेद और चौगान खेलने,[163] घुड़सवारी करने[164] इत्यादि के वर्णन बाल-क्रीड़ा और बाल-मनोरंजन के ही उदाहरण हैं। युवकों के मनोरंजन मे मल्ल-क्रीडा[165] और मृगया[166] के उल्लेख हुए हैं। तुलसी ने तो पालतू बाज के द्वारा दूसरे पक्षियो के शिकार करने की बात भी कही है।[167] शंकरदेव द्वारा वर्णित श्रीकृष्ण के वन-विहार,[168] वन में मित्रो के साथ भोजन करने[169] इत्यादि के वर्णन युवकोचित मनोरंजन में ही आयेंगे। शंकरदेव और तुलसी दोनों में गीत-नृत्य, नाट्य प्रदर्शन इत्यादि के प्रचलन का उल्लेख मिलते हैं। शंकरदेव ने कोचराज नरनारायण के दरबार में भारत के अन्य प्रान्तों से आनेवाले नट-नटियों, प्रशस्ति गायकों आदि के उल्लेख किये हैं।[170] अभिनय और नाट्य-प्रदर्शन को मनोरंजन के साथ ही भाव और विचार सम्प्रेषण का सबल माध्यम होने के कारण स्वयं शंकरदेव ने न केवल नाटकों की रचना की, बल्कि उनके अभिनय में भी भाग लिया एवं कई प्रकार के वाद्य-यन्त्रों को अपनी देख-रेख में बनवाया। तुलसी साहित्य में भी नटों-भाटो, नर्तकियों आदि और नृत्यों[171] के उल्लेख मिलते हैं। उनके समय मे उत्तर भारत मे अभिनय-प्रदर्शन की विभिन्न लोक-विधियाँ प्रचलित रही होंगी। रास-लीला और राम-लीलाएँ भी होती थीं, तभी उन्होंने मेधा भकत के साथ मिलकर राम-लीला को नवीन रूप दिया था। उल्लेखनीय है कि शंकरदेव और तुलसी ने समाज-परिवार में प्रचलित विविध उत्सवों को भी मनोरजन के साधन के रूप मे वर्णित किया है

प्रसाधन और वस्त्राभूषण : नारी वर्णन में दोनों कवियों ने उसके सौन्दर्य और प्रसाधन के सम्बन्ध में भी किंचित् संकेत किये हैं। इनमें स्नान-पूर्व और स्नान-पश्चात् प्रसाधनों के भी संकेत हो गये हैं। स्नान-पूर्व शरीर में तेल, उबटन[172] आदि मालिश करने के उल्लेख हुए है और स्नान पश्चात् कतिपय सुगन्धित द्रव्यो-चन्दन, कस्तूरी आदि के लेप किये जाने के उल्लेख मिलते है। तुलसी की अपेक्षा शंकरदेव में ये उल्लेख अधिक स्पष्टता से हुए हैं। तुलसी के कर्मक्षेत्र की तुलना में शंकरदेव के क्षेत्र कामरूप (प्राच्यदेश) में सौन्दर्य-प्रसाधनों के अधिक उपयोग किये जाने की पुष्टि नैषधीय नारायणीय-व्याख्या से भी होती है।[173] आँखो मे अजन, ललाट पर टीका, करतल में मेंहदी लगाने इत्यादि के उल्लेख दोनों में हुए है।[174] रूप गोस्वामी कृत 'उज्ज्वल नीलमणि' और 'वल्लभदेव कृत 'शुभासितातली' मे नारी के सोलह शृंगारों के उल्लेख हुए हैं। उनमें प्रसाधन और वस्त्राभूषणों के प्राय सभी रूप समाहित हो गए हैं। शंकरदेव और तुलसी की रचनाओ मे उनके अधिकांश रूप प्राप्त होते है। अन्तर यह है कि तुलसी ने सबके अलग-अलग वर्णन न करते हुए 'सर्वे अलंकारों भवति सुरुपानाम्' के अनुरूप ही 'भूषन सकल सुदेस सुहाए'[175] जैसी घोषणाओं से ही काम चला लिया है, जबकि शंकरदेव ने विभिन्न शृगारों के अलग-अलग वर्णन किये हैं। उनमें से यहाँ कुछ उदाहृत किये जाते है। यथा-

1. असितपट या चीर : गाव मुचि दिव्य नेत बस्त्र दिला आनि।
   प्रबन्धे पिन्धिला ताक आपुनि गोसानी।।
   रत्नर मेखला टानि बांधिला कंकाले।
   मुठिते लुकाइ बतासते येन हाले।।[176]
2. वेणी बंधन या केश रचना : प्रबन्धे बांधिला अति उच्च करि खोपा।[177]
3. बालों में फूल खोसना : मालती फुलर भितरत दिला थोपा।[178]
4. तिलक : शिखत सिन्दूर आगरर दिला फोट।।[179]
5. कर्णावतंस : कर्णे खंजखिलि शिरे पिचिल मुकुट।
   चारु चाकिशलाइ ज्वले उपर कर्णत।।[180]
6. आभूषण अथवा हार, कंकण, नूपुर इत्यादि : रत्नमय गलपता गुलिया गलत।।
   सुवर्णे खचित गले साते सरि हार।
   हृदयत ज्वलै जिलिमिलि पेचन्दार।।
   बाहुत सुवर्ण टार करत कंकण।
   दुयो हाते देखि शाख देवाग भूषण

कपालत ज्वलै आति सुवर्णर जेठि
दशो आगुलित जाम्प सोणार आगुठि
रत्नर नूपुर पावे रुण जुन बाजे।[181]

सीता-विवाह के अवसर पर तुलसी ने नारियों के प्रसाधन और वस्त्राभूषण का उल्लेख निम्नाकित रूप में किया है ·

पहिरें बरन बरन बर चीरा। सकल बिभूषन सजें सरीरा।।
सकल सुमंगल अंग बनाएँ। करहिं गान कलकंठि लजाएँ।।
कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। चालि बिलोकि काम गज लाजहिं।।[182]

दोनों कवियों द्वारा उल्लिखित वस्त्राभूषणों में स्थानीय प्रचलनो को अधिक महत्त्व मिला है। यही कारण है कि शकरदेव ने रुक्मिणी के द्वारा प्रयुक्त किये जानेवाले वस्त्रों में 'मेखला'[183] और 'दिव्य नेत'[184] का पुन. पुन· उल्लेख किया है।[18] ध्यातव्य है कि असम में 'मेखला' और 'रेशमी वस्त्रों' तथा उत्तर भारत में साड़ी के प्रचलन की विशिष्टता ही इसका मुख्य कारण है।

नारी के वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त दोनों की दृष्टि पुरुष के परिधान पर भी गयी है। इस दृष्टि से उनके द्वारा वर्णित राम और कृष्ण के परिधानों और अलकारों को उदाहृत किया जा सकता है।

आदर्श कल्पना

आलोच्य कवियों ने समाज के यथार्थ वर्णन तो किये ही हैं, साथ ही उन्होने अनेक विषयों पर अपने मतव्य भी दिये हैं। यह सत्य है कि उन मंतव्यों में दोनो के वैष्णव मत और आदर्श ही अधिक झॉकते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित आदर्शो का वर्तमान पारिवारिक-सामाजिक जीवन में कितनी प्रासंगिकता है, यह भिन्न बात है। पर यहॉ उनका निर्देश इसलिए आवश्यक है कि वे ही उनके आदर्श प्रतिमान है। आगामी पक्तियों मे कुछ प्रमुख शीर्षकों के अन्तर्गत उन्हें उपस्थित किया जाता है।

(क) परिवार : दोनों की रचनाओं में अंकित आदर्श हिन्दू परिवार को आधुनिक शब्दावली में सयुक्त-परिवार कहा जायेगा, जिसमें माता-पिता, पुत्र और भाई ही नहीं, बल्कि पितामह, चाचा-चाची, और पारिवारिक सेवक भी आते है। शकरदेव मे श्रीकृष्ण-परिवार और हरिश्चन्द्र-परिवार तथा तुलसी मे दशरथ-परिवार आदर्श परिवार के रूप मे अंकित हैं। दोनों कवियों के कलयुग-वर्णन जहॉ विघटित और पतनशील परिवार को अंकित करते हैं, वहीं हरिश्चन्द्र, कृष्ण और दशरथ के परिवारों के चित्र सुसंगठित परिवार के, जिनमें 'अनुचित उचित बिचार तजि, ते पालहिं पितु बैन'[186] जैसे पुत्रों की कल्पना हुई है

दोनों कवियों ने दाम्पत्य जीवन की सुख-समृद्धि पर बहुत अधिक बल दिया है। नारी धर्म का अर्थ ही लोगों ने पति-सेवा माना है।

शंकरदेव : 1 स्त्री जाति भैले तार स्वामी जीव प्राण।
स्वामी से देवता यत तप जप ध्यान।।[187]
2. पतिव्रता स्त्रीर स्वामीसे जीवन केने राखि आछो प्राण।।[188]
3 पतिव्रता नारीर स्वामीसे मोक्ष प्राण।[189]

तुलसीदास :
1 नारि धरम पति देउ न दूजा।[190]
2. एकई धर्म एक ब्रत नेमा। काँय बचन मन पति पद प्रेमा।।[191]
3. सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।[192]

दोनों द्वारा अंकित नारियाँ, यथा-शैव्या, रुक्मिणी, सीता, पार्वती पातिव्रत के आदर्श रूप में ही अंकित हुई हैं। शंकरदेव की शैव्या जहाँ अपने पति की दक्षिणा चुकाने के लिए स्वयं दासी बनती है, ब्राह्मण के हाथ बिक कर धन प्राप्त करती है वहीं सीता अपने पति के साथ जगलों की खाक छानती है। ये कार्य उनके सहधर्मिणी रूप को सार्थक करते हैं। शंकरदेव की रुक्मिणी का कृष्ण को पा लेने के पश्चात् सत्यभामा से उसका कथन- 'जगतक परम गुरु स्वामी श्रीकृष्ण, उनिकर चरण सेवा करिते ब्रह्माण्ड भितरे कोन दुर्लभ थिक। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारि पदारथ हाते मिलावे।[193]' पति के प्रति उसकी दृढ निष्ठा का परिचायक है। तुलसीदास द्वारा वर्णित दक्ष-यज्ञ में हुई सती का उमा रूप में पुनर्जन्म प्राप्त करने पर शिव को पति रूप में पुनः प्राप्त करने के लिए की गई तपस्या उसके नैष्ठिक पातिव्रत्य का ही परिचायक है। दाम्पत्य जीवन में पति-पत्नी का कर्तव्यनिष्ठ स्नेह निम्नांकित पक्तियों में स्पष्ट हुआ है।

शंकरदेव :
कर्म समयत तोक मंत्री बुलि लेखि। रंगर बेलात येन तइ प्राण सखी।
स्नेहर प्रस्तावे तइ मातृ येन ठान। शयन बेलात तइ दासीर समान।।[194]

तुलसीदास :
सबहिं भाँति पिय सेवा करिहौ। मारग जनित सकल श्रम हरिहौ।
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं।।[195]

कहा जायेगा कि पारिवारिक सुख समृद्धि के लिए सुखी दाम्पत्य जीवन को दोनो ने महत्त्वपूर्ण माना है ध्यातव्य है कि दोनो कवियो के ये विचार उनके वैष्णव आदर्श से अनुप्राणित हैं दोनो को दास्य भाव की भक्तिया मान्य हैं जिसमे

स्वामी सेवक भाव होता है पति पत्नी के सम्बन्ध निरूपण मे भी दोनो की दृष्टिया स्वामी सेवक भाव से ओझल नहीं हुई हैं

(ख) समाज : आलोच्य कवियों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विविधता में एकता और द्वैतता में अद्वैतता की कल्पना की है। इसके मूल में उनके एक देव के प्रति अटूट नैष्ठिक भक्ति ही रही है। चाहे विचार परिवार का हो या समाज का, अर्थ का हो या राजनीति का सबको उनके अद्वैत दर्शन ने प्रभावित किया है। समाज सम्बन्धी विचारों में भी उन्हें अद्वैत-भिन्न सारे प्रतिमान अस्वीकार्य हैं। इस दृष्टि से उनके निम्नांकित उद्घोषों को सामाजिक विचारधारा की आधारशिला मान सकते है-

शकरदेव : शत्रु मित्र उदासीन सबाते समान।[196]

तुलसीदास : सम कंचन काँचै गिनत, सत्रु मित्र सम दोइ।[197]

शत्रु और मित्र मे किसी प्रकार का भेद न मानना, यानी शत्रु को क्रमशः अपने सद् विचार और सद्भावों से मित्र बना लेना ही सामाजिक सगति, शाति और प्रगति का लक्षण है। वस्तुतः उनके इन विचारों का मूल रूप वेदों तक में ढूँढ़ा जा सकता है, जहाँ ऋषि प्रार्थना करता है-

हते हॅहमा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा महे।।[198]

ध्यातव्य है कि आलोच्य कवियों के साम्य-भाव का महत्त्व भक्ति के क्षेत्र में जहाँ अतिशय उदार और विशाल हृदयता का सूचक है, वहीं सामाजिक सन्दर्भ मे साम्य स्थापन का। निम्नांकित पंक्तियों में वही बात अधिक स्पष्टतापूर्ण घोषित हुई है-

शकरदेव :

1. कुकुर श्रृगाल गर्दभरे आत्माराम। जानिया सबाको पड़ि करिबा प्रणाम।
   समस्ते भूतते विष्णु बुद्धि नोहे भावे। काथ्य वाक्य मने अभ्यासिबऐहि भावे।।[199]
2 सकले प्राणीक देखिबेक आत्मा सम।[200]
3. नबाछै भकति जाति अजाति।[201]

तुलसीदास :

1. अति नीचहु सन प्रीति करिअ जानि निज परम हित।[202]
2 जड चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
   बदउ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि ।

3 सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।[204]

ऐसे ही और भी अनेक उद्धरण आलोच्य कवियों से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस आधार पर यह कहना पड़ता है कि आलोच्य कवियों की दृष्टि में समाज के केवल दो ही रूप संभव थे- भक्त और विभक्त। जिस समाज को दोनो ने देखा और भोगा था वह समाज था विभक्त यानी बिखरा हुआ, सब प्रकार से ह्रासोन्मुखी। उसके विपरीत जिस आदर्श समाज की वे कल्पना कर रहे थे, उसे होना चाहिए भक्त यानी सब प्रकार से संगठित, व्यवस्थित और एक समान विधि-निषेध से संचालित। विभक्त समाज की आधारभूत विशिष्टता थी विषमता। उसके विपरीत भक्त समाज की आधारशिला होनी चाहिए समता यानी साम्यभाव। साम्य भाव पर आधारित जिस समाज की कल्पना दोनों की रचनाओं में प्राप्त हैं, वही उनकी दृष्टि में भक्त समाज, यानी समाज का आदर्श रूप है। उससे भिन्न समाज है विभक्त यानी सब प्रकार से असंगठित और अव्यवस्थित।

शंकरदेव एवं तुलसी दोनों इस बात को स्वीकार करते है कि सामाजिक विधि-निषेध के लिए कानूनी स्वीकृति की अपेक्षा मानवीय मूल्यों का अधिक महत्त्व है। दया, ममता, परोपकार इत्यादि का सम्बन्ध कानून की अपेक्षा मानवीय मूल्यो से ही अधिक है। निर्बल प्राणियो पर दया, विपत्ति में पड़े व्यक्ति की सहायता उपकार इत्यादि करने को दोनो ने समानरूप में महत्त्व दिया है। इन्हें ही वैष्णव शब्दावली मे उन्होंने 'पुण्य' और 'धर्म' इत्यादि कहा है एवं इनके विपरीत छल छद्म, पर-पीड़ा इत्यादि को 'पाप'। पुण्य-कार्यो को सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने के लिए दोनों आजीवन सचेष्ट रहे हैं। इसलिए एतद्विषयक उपदेश उनमें अनेकत्र पाये जाते हैं। यथा-

शंकरदेव : जगतर पुण्यमाने जाना निष्ठ करि।
प्राणी उपकारर अल्पको नुहि सरि।।
हेनजानि प्राणीक अभय दिया दान।।[205]

तुलसीदास : पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीडा सम नहिं अधमाई।।[206]

परोपकार को मूर्त्त करने के लिए उन्होंने कतिपय प्राकृतिक उपादानों को उदाहृत किया है। शंकरदेव की निम्नांकित उक्ति द्रष्टव्य है-

पर उपकारी तरु जनम सार्थक। संतर बिमुख येन नुहिके पार्थक।।
बाकलि पल्लव मूल पत्र पुष्पफल जेइ जिबा चावे पावै बृक्षत सकल
जीवनर साफल देहीर एहिमाने जीवै पर करि अर्थे पागे[207]

तुलसी द्वारा वर्णित संतो के लक्षण एवं 'दोहावली' के अनेक दोहो मे परोपकार विषयक उक्तियाँ भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।[208]

आलोच्य कवियों ने सत्य और अहिंसा को न केवल व्यक्तिगत स्तर पर बल्कि सामाजिक स्तर पर भी प्रतिपादित किया है। कार्य चाहे वैयक्तिक हो या सामाजिक या आर्थिक, दोनों ने सत्य को सभी प्रकार के कृत्यों का मूल माना है। यथा-

शंकरदेव : नाहि नाहि आन धर्म जाना सत्य बिना।[209]

तुलसीदास : सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए।[210]

सत्य-पालन का उनकी रचनाओं में केवल सैद्धान्तिक कथन ही नहीं हुआ है बल्कि उनके व्यावहारिक दृष्टान्त भी उपस्थित किये गये हैं। शंकरदेव के हरिश्चन्द्र, सत्य की रक्षा के लिए ही चाण्डाल के हाथों बिकते हैं और तुलसी के दशरथ राम-वियोग में मृत्यु का वरण करते हैं- इन सन्दर्भों में ही शंकरदेव और तुलसीदास की उक्तियो- 'सत्यतेसे आछे रहि मही चराचर। सत्यसम धर्म आउर नाहि पुरुषर।',[211] 'धरमु न दूसर सत्य समाना।'[212] के मर्म समझे जा सकते हैं। सत्य की तरह ही दोनों ने अहिंसा को भी अधिक महत्त्वपूर्ण घोषित किया है।

सामाजिक स्वस्थता के लिए दैनिक जीवन में नैतिक-शुचिता को दोनो ने महत्त्व दिया है। यही कारण है कि लोभ, मोह, माया, काम, क्रोध इत्यादि से बचने और सत्य, शौच, अहिंसा, शम, दम-युक्त जीवन व्यतीत करने पर दोनो ने बल दिये है।[213] इसीलिए वे काम इत्यादि की भर्त्सना करते है और माया से मुक्ति प्राप्त करने के लिए वे उपदेश दे चलते हैं। शंकरदेव की स्पष्ट मान्यता है-

एरिबे सदाय काम क्रोध अहंकार। तेबेसे एडाइबे हात दुर्जन मायार।।[214]

तुलसी के अनुसार काम, क्रोध इत्यादि एक-एक भी अनर्थकारक है, फिर यदि एक ही साथ सभी एकत्र हो जायें तो उनसे बचे रहना असंभव है-

ग्रह ग्रहीत पुनि बातबस, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइ बारुनी कहहु कौन उपचार।।[215]

भेद बुद्धि के परित्याग,[216] पशु-पक्षियों इत्यादि के प्रति प्रेम भाव,[217] लोभ से विरत रहने,[218] शरणागतों की रक्षा,[219] मादक द्रव्यों के असेवन,[220] पर स्त्री को मातृवत् समझने[2..] इत्यादि विषयक कथन जीवन में नैतिक मूल्यों की स्वीकृति और अनैतिक मार्ग के परित्याग के ही प्रमाण उपस्थित करते हैं।

सामाजिक शांति व्यक्ति के संयमित जीवन से बहुत कुछ अनुप्रेरित होती है। अनेक बार ऐसे क्षण उपस्थित होते हैं कि व्यक्ति नाना प्रकार की चिंता से उद्विग्न हो उठता है वैसी स्थिति में कुछ ऐसे भी कार्य होने की सभावना होती है जो

समाज के लिए हितकर नहीं होते। वैसी स्थितियों की संभावना करते हुए ही दोनो ने सब प्रकार की स्थितियों में मन को वशीभूत करने की सलाह दी है। शंकरदेव ने न केवल मन को वशीभूत करने की सलाह दी है- 'करियो मनक बश्य विदुर सम्प्रति'[222] अपितु मन को वशीभूत करने के लिए उसे प्राणायाम से दण्डित करने की बात भी की है।[223] तुलसी के 'संत-हंस'[224] की महत्ता भी वशीकृत मन के सन्दर्भ मे ही समझी जा सकती है। मन के नियत्रित रहने पर ही व्यक्ति विषम से विषम परिस्थितियों में भी विवेकपूर्ण निर्णय लेता है। 'सुमति' और 'कुमति' में योग्य निर्णय नहीं कर पाना समाज के लिए हितकर नहीं होता। तुलसी की मान्यता है कि सुमति में समृद्धि और कुमति में विपत्ति निहित होती है।'[225] व्यक्ति के अकेले निर्णय लेने में असमर्थ होने पर तद्‌विषयक राय और लोगों से भी ली जा सकती है एव सब की योग्य काम लिया जाना समाज के लिए हितकर होता है।[226]

सामाजिक व्यवस्था की संस्कारमयी पारम्परीण मान्यताओं की सगति के लिए ही दोनों ने विवेकपूर्ण कार्य को अथवा एक से अधिक लोग की राय से किये जानेवाले कार्य को अधिक महत्त्व दिया है

(ग) अर्थ : आर्थिक समृद्धि भौतिक सुख-सुविधा के लिए आवश्यक है, किन्तु आलोच्य कवियों का जीवन संसार से सम्बद्ध होते हुए भी भौतिकवादी नहीं था। इसलिए उनकी रचनाओं में अर्थ सम्बन्धी प्राप्त मान्यताएँ वैष्णवी और साधु सन्यासियों की दृष्टि को ही ज्यादा उपस्थित करती हैं। पुन: यह भी ध्यातव्य है कि अपने जीवन के पूर्वाद्ध में तुलसी ने जैसे आर्थिक कष्ट भोगे थे, वैसे शंकरदेव ने नहीं। इसीलिए तुलसी इस बात से अधिक चिंतित दिखायी पडते हैं कि किसानों को खेत नहीं है, भिखारी को भीख नहीं मिलती है, बनियो का व्यापार भी नहीं चलता है और नौकरी खोजनेवालों को नौकरी नहीं मिलती है। जीविका विहीन लोग एक दूसरे से दु:खपूर्वक यही कहते हैं कि कुछ समझ में नहीं आता कि कहाँ जायें और क्या करें।[227] इस प्रकार की चिता उन्होने अनेकत्र व्यक्त की है। उनका स्पष्ट अभिमत है कि ससार में जितने प्रकार के कार्य व्यक्ति करते हैं, सब के मूल में पेट का पालन ही निहित होता है।[228] शंकरदेव में अर्थाभाव से उत्पन्न विषम जीवन की ऐसी करुण पुकार का अभाव शायद इसीलिए है कि एक तो उन्हे ऐसे अभाव से गुजरना नहीं पड़ा और दूसरे की तत्कालीन जनसंख्या के अनुपात में उपजाऊ जमीन की अधिकता होने के कारण भोजन सबको सहज सुलभ रहा होगा। शकरदेव और तुलसीदास दोनों वैष्णव भक्त थे। उनका जीवन संयमित था। सतो से ही उनका था इसीलिए उन्होने असन्तोष का परित्याग

धन-संचय से मुक्ति इत्यादि को प्रश्रय दिया है। उन्होंने यह देखा था कि समाज में लोग छल-छद्म से धन-संचय कर रहे हैं।[229] धन-संचय उनकी दृष्टि मे विपत्ति (अधार्मिक कार्य) को बुलानेवाला[230] और मद को बनानेवाला[231] है। धन के सांसारिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए तुलसी ने लोगों को राय दी है कि व्यय आय के अनुरूप ही होना चाहिए-

> तुलसी सो समरथ सुमति, सुकृती, साधु, समान।
> जो बिचारि व्यवहरइ जग खरच लाभ अनुमान।।[232]

आय के अनुरूप व्यय करनेवालों को तुलसी ने 'बुद्धिमान' 'सामर्थ्यवान' 'चतुर' और 'पुण्यात्मा' एवं 'साधु' तक कहा है। ऐसा स्वीकार कर प्रकारान्तर से उन्होंने यह व्यंजित किया है कि आय की तुलना में अधिक व्यय करनेवालों का जीवन आर्थिक दृष्टि से विपन्न, अत: कष्टमय हो जाया करता है। वस्तुत: उन्होंने आर्थिक पक्ष से सम्बन्धित चिन्तन का दायित्व राज-व्यवस्था को सौंपा है।उनकी मान्यता है कि धन अथवा प्रत्येक सुख-सामग्री का वितरण समाज के हर तबके में समान रूप से करना चाहिए। इसे उन्होंने एक रूपक के माध्यम से स्पष्ट किया है-

> मुखिया मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक।
> पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक।।[233]

धन के अर्जन और व्यय विषयक तुलसी की 'आय के अनुसार व्यय की मान्यता' शकरदेव को भी स्वीकार्य है। अर्जित धन किन रूपों मे व्यय किया जाये इसके सम्बन्ध में शंकरदेव की ये पंक्तियाँ अधिक महत्त्व की हैं-

> पाँच भाग करि बिभागिबे निज वित्त।।
> धर्म अर्थ काम यश पुत्रर निदाने।
> तेबेसे थाकिबे पाइ सुख सर्वक्षने।।[234]

अर्पित धन को पाँच भागों में विभक्त करने एव प्रत्येक मद में उसके निर्धारित अंश को ही व्यय करने की मान्यता प्रतिपादित करते समय शंकरदेव की दृष्टि अधिक व्यावहारिक एवं वाणिज्य शास्त्रीय रही है। ध्यातव्य है कि शंकरदेव वैष्णव भक्त और धर्माचार्य होकर भी घर-बारी थे, पर तुलसी का जीवन वैरागी था, जिसके यहाँ अर्थ से अर्थ का पुनरुत्पादन, अर्थ से इच्छाओं की पूर्ति (काम), अर्थ से यश का अर्जन और संतति-निर्वाह का कोई महत्त्व नहीं था। अस्तु, निष्कर्षत: कहा जायेगा कि आय के अनुरूप व्यय के सिद्धान्त ही दोनों की दृष्टियों में मुख्य आर्थिक सिद्धान्त है जीवनगत के तुलसी की अपेक्षा

शकरदेव की अर्थ विषयक धारणाएँ अधिक व्यावहारिक हैं।

निष्कर्ष

सारांशत: कहा जाएगा कि शंकरदेव और तुलसीदास की सामाजिक एव आर्थिक मान्यताओं पर धार्मिक और पुराण-कथाओं का प्रभाव है। दोनों की रचनाओं में सामाजिक एवं आर्थिक मान्यताएँ दो रूपों में व्यक्त हुई हैं- यथार्थ और आदर्श। दोनों कवि इस बात के प्रति अधिक चिंतित हैं कि वर्ण और आश्रम पर आधारित प्राचीन सामाजिक व्यवस्था सब प्रकार से नष्ट-भ्रष्ट हो रही है। उन रूढियों और अंध-विश्वास के प्रति दोनों समानरूपेण चिंतित है जिनसे समाज मे विसगति और विशृंखलता बढ़ गयी है।

धार्मिक एवं नैतिक मूल्यहीन पतनोन्मुखी समाज को धर्मप्राण, नैष्ठिक और उन्नत बनाने की चिंता शंकरदेव और तुलसीदास दोनों में एक-सी है। इसके निमित्त दोनों ने प्राय. समान प्रकार के उपाय सुझाये हैं। दोनों की चेष्टा आदर्श समाज की स्थापना करना है।

आर्थिक विपन्नता मे आदर्श समाज की कल्पना भी संभव नहीं है। इसीलिए तत्कालीन समाज में बढते हुए आर्थिक वैषम्य पर भी उनकी दृष्टि गयी है। दोनो ने वैयक्तिक स्तर पर आय-व्यय के समायोजन के सिद्धान्त को स्वीकार किया है तथा शासक द्वारा समाजहित चिन्तन हेतु आर्थिक सम दृष्टि की बात कही है। शकरदेव और तुलसीदास की सामाजिक आर्थिक विचारधाराएँ किसी समाजशास्त्री अथवा अर्थशास्त्री के दृष्टिकोण को नहीं, बल्कि भक्त कवि के दृष्टिकोण को अग्रसारित करती है। इस दृष्टि से दोनों में साम्य अधिक है। उल्लेखनीय है कि शकरदेव की सामाजिक-आर्थिक दृष्टि तुलसी की अपेक्षा यदि अधिक व्यावहारिक है तो तुलसी की एतद्विषयक दृष्टि शंकरदेव की अपेक्षा अधिक प्रखर और पैनी है।

संदर्भ :-

1. भागवत 12/40
2. वही 12/28
3. नि न.सि 334
4. भाग. 12/24
5. मानस 7/97/1
6. वही 7/97/2
7 वही 7/98 (क)
8 वही 7/99/5

9 भाग 11/137
10 वही 12/123 24
11 कविता 7/83
12. दोहा 50
13. कीर्तन 267
14. वही 270
15. मानस 3/33/1
16. वही 3/32/4
17. रु. ह. का 204
18. मानस 7/85/2
19. वही 3/33/1
20. वही 7/97/1, 7/99/4
21. भ.प्र. 62-63
22. ह उ 66, राम (उ.) 722, मानस 1/209
23. ह.उ 8, मानस 1/53
24. भाग 8/1173, राम (उ.) 565, मानस 2/54/4, 3/9
25. ह.उ 84, मानस 1/153/2-3
26. भाग 12/23
27. दोहा 547
28. शूद्रत जनम जार बेद उच्चारणे तार, नाहि जेन एको अधिकार।
भाग 10/1739
29. पूजिअ बिप्र गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना। मानस3/33/1
30. भाग 2/1270
31. मानस 2/194
32. भाग 8/658, मानस 3/43/1
33. रु. ह. का 133
34. मानस 4/14/4
35. भाग 12/118
36. वही 12/120
37. मानस 1/183/1
38. वही 7/973
39. अ.पा. 273-74, भाग 12/24
40. भाग 12/117
41. वही
42. वही
43 वही 6/23 24 41-42

44. वही 6/53
45. मानस 7/97 (क)
46. दोहा 537
47 वही 548
48. भाग 6/47, दोहा 502
49. वही 12/124
50. वही 12/23- 24
51. वही 12/15
52. मानस 7/98/1
53. वही 7/98/2
54. वही 7/99/1
55. भाग 12/7
56. मानस 7/100 (क)
57. वही 7/101/3
58. कविता 7/96
59. भाग 12/117
60. वही 12/128-29
61. वही 12/123
62 वही 12/21
63. वही 10/781
64. कविता 7/174
65. वही 7/97
66. वही 7/179
67. मानस 2/171/3
68. रु.ह का 255, 287, भाग 10/152, 281, 286, मानस 1/143/4, 2/236/1, 3/2/2
69. भाग 10/265, 283. कृ गी 3
70. कीर्तन 1607, मानस 1/193/2
71. ह.उ. 88, मानस 1/300/1
72. ह. उ. 60, 61; मानस 1/299
73. भाग 10/26 (कुरुक्षेत्र)
74. भाग 10/31 (कुरुक्षेत्र), मानस 1/299/2
75. वही 10/26
76. रु.ह. का 262
77. वही 112-13
78 मानस 7/26 (छ

79. वही 1/212/3
80. वही 7/27
81 ह.उ 614, मानस 1/331/4
82. रु.ह का 266, मानस 1/307/2
83. रू.ह. ना., रा.वि ना., रु.ह का 251, मानस 1/326/4
84. कीर्तन 1568, मानस 1/338/4
85. रु.ह. 247, 265, 711; कीर्तन 1587, मानस 1/307/3, 1/327/2
86. रु.ह 684,685, ह.उ 613, कीर्तन 1/307/4
87. रु.ह 686, मानस 2/240
88. रु.ह. 109
89. रू.ह 247, 121, 122; मानस 1/327/2
90. ह.उ 361, 363,367, रु.ह. का 98; मानस 1/292/1, 2/28/1, 2/44/3, 2/57/2
91 वही 186; रू.ह का 499; मानस 3/18/6
92. ह.उ 34, 35, रु.ह का 677, मानस 1/328, 2/249/1
93. भाग 8/855-56, ह.उ. 34-35
94. रु.ह. का 269, ह.उ. 36, भाग 10/152
95. धर्मशास्त्र का इतिहास (पहला भाग) पृ 177
96. भाग 10/54, मानस 1/189/3
97. वही 10/140, वही 1/192/2
98. भाग 10/141, 150-53, 241, 2145; 8/916; मानस 1/193, 1/335/2
99. गी व. 1/4,5
100. वही 1/6
101. भाग 10/245-46, मानस 1/196/1
102. मानस 2/9/3
103. भाग 10/2149, मानस 1/202/2
104. वही 10/2143, वही 1/203/2, 2/9/3
105. वही 10/2146, वही 1/203/2
106. रु.ह. ना, मानस 1/311/3
107. रु.ह.का 188-195, मानस 1/297/4-302
108. वही 663, वही 1/311/3
109. वही 265, पा. म. 131
110. रु.ह ना., रा वि. ना., रु.ह का. 739, मानस 1/323
111. रु.ह. का 260, 760, मानस 1/305/1, 1/312/2
112. वही 672, पा.म. 10
1 3 रा वि ना रु ह का 325 740 मानस 1/325/2 3 पा म 132

114. रु.ह. ना रु.ह का 782-83, जा म 160
115. रा वि ना, रू ह ना. 739; मानस 1/294/4-295, 330/1-3
116. रा. वि. ना., रु.ह.ना, जा म. 184, कविता 1/13
117 रु ह का 666, जा. म 192
118. रु.ह. का 731-32, 756
119 मानस 1/345/2-3
120 रु ह. का 269, 782, मानस 1/329
121. वही 262, ह उ. 447
122. ह उ 477
123. अनर्घराघव 3/55
124 नैषधीय चरित 14/51
125. रु.ह.ना.
126. रु.ह. ना., रु.ह का 737
127. रा. वि ना
128. रु ह.ना.
129. रा वि ना
130. रु.ह.का 789-91, रु ह.ना, रा वि ना-
131. जा म 160, पा म 138
132 मानस 1/326/2, जा म 146, पा.म 133
133. जा.म. 150, पा म 135
134. मानस 1/326/2 छं , 1/327
135 वही 1/336/4
136. वही 1/349
137. वही 1/359/1
138. भाग 10/195. 2117, 11/588, 737, रा (उ) 458
139. ह उ. 446-449. मानस 2/247/1, 3/32
140. कीर्तन 2226
141. वही (उरेषा वानि) 2228-29
142. कीर्तन 1006
143. गी. व. 7/18
144. गी.व. 7/20
145. कीर्तन 186 (घोषा)
146. गी.व 7/21
147. कीर्तन 2225
148 ह उ 161 166 170 173 मानस 1/1164/4
149 रु ह 252 रा प्र

150. भाग 10/184, गी व 1/21, कृ गी 8, ह बा 26, 30, दि प 26/7
151. भाग 10/185, 193, मानस 1/197/3, गी ज 1/12
152. वही 11/91-94, रु ह का 469-472, रा(उ)506-7, मानस 1/303/2
153. वही 11/38, मानस 7/106/22-3, 7/107 (क)
154. रु.ह.ना. 251, मानस 1/326/4
155. भाग 10/249, गी.व 1/30
156. वही, वही 1/32
157. वही, वही
158 वही 10/264, कृ गी 3
159. कीर्तन 763
160. वही, कृ गी 20
161. भाग 10/346
162. वही
163. गी व 1/45
164. वही
165. गी व 1/41
166. ह.उ. 59, गी व. 39
167. मानस 2/28
168. भाग 10/364
169. वही 10/396
170 नटक भाटक पश्चिम देशक, यत यत पंडित आवे।
घोटक कम्बल बहुत रजत, आपनाहि मन पूरि पावे।।
(राज-भटिमा- 9)
171. मानस 6/12/2
172 रु ह का 253, 254
173. प्रच्यो हि सुन्दर्यो विलोचने नेत्रप्रान्तनिर्गतया कर्णोपांतरचशित्याजन रेख्या भूषयति। 15/34
174. रु ह का 256, भाग 10/147, मानस 1/296/1
175. मानस 1/317/1-2
176 रु ह. का 254-55
177 रु.ह. का 255
178. वही
179 वही 256
180. वही
181 वही 256-58
182 मानस 3 7 2

183. ए ह का 255
184. वही 254, ह उ 171
185. मानस 1/247/1
186. दोहा 541
187. ह उ 443
188. भाग 11/540
189. वही 10/655
190. मानस 1/101/2
191. वही 3/4/5
192. वही 3/5 (क)सो
193. पा ह ना
194. ह उ 436
195. मानस 2/66/1
196. भाग 8/1247
197. वै. स. 31
198. यजुर्वेद 36/18
199. कीर्तन 1823
200. वही 1825
201. वही 130
202. मानस 7/95 (क)
203. वही 1/7 (ग)
204. वही 1/7/1
205. ह.उ 495
206. मानस 7/40/1
207. भाग 10/926-27
208. दोहा 345, 346, 467
209. ह उ 262
210. मानस 2/27/3
211. रा (उ) 575-76
212. मानस 2/94/3
213. नि.न सि. 142; मानस 3/38 (क),3/39 (ख), दोहा 264
214. नि.न सि 147
215. दोहा 271 (तुलनीय 259-268)
216. भाग 10/359, 11/259, नि न सि 145, 150, 348; वै.स 27
217. वही
218 वही
2) वही 3 293 6/53 8/206 दोहा 543

220 वही 6/423, नि. न. सि. 347, दोहा 502
221 वही 10/359, वै.स 27
222. अ पा 74
223. नि.न सि 146
224. दोहा 369
225. मानस 4/39/3
226. भाग 10/999, दोहा 974
227. कविता 7/97
228. वही 7/96
229. भाग 12/23; मानस 7/97/3
230. वही 10/128
231. मानस 7/96/2
232. दोहा 471
233. मानस 2/315
234. भाग 8/1022

* * *

षष्ठ अध्याय

राजनैतिक विचारधारा

राजनीति का अर्थ है राज्य की रक्षा और शासन को दृढ करने का उपाय बतानेवाली नीति[1]। प्राचीनकाल में भारतीय राजवेत्ताओं ने इसे ही दंड-नीति कहा है। 'महाभारत' के शांति-पर्व में इसे ही राष्ट्र का प्रजागर या जागरण कहा गया है। उसके अनुसार दंड (राजनीति), प्रजा का शासन, रक्षण और पालन करता है और सबकी निद्रावस्था में भी यह जाग्रत रहता है। इसीलिए इसे धर्म भी कहा गया है[2]। महाभारतकार ने जिस विशद राजशास्त्र का भीष्म के द्वारा कथन कराया है उससे स्पष्ट है कि राजधर्म ही परमधर्म है[3] और वही सम्पूर्ण प्राणियों के जीवन का अवलम्ब रूप है[4]। इससे स्पष्ट है कि भारत में राजनीति को धर्म से कभी सर्वथा अलग नहीं स्वीकार किया गया है। स्वयं भीष्म ने भी राजधर्म का कथन करने के पूर्व उसे नित्य शाश्वत धर्म स्वीकार किया है[5]।

चूँकि राजनीति अथवा दंड-नीति धर्म के रूप मे भारत में स्वीकृत हुई इसीलिए भारत के प्राय: सभी महाकवियो ने अपनी रचनाओं मे तद्विषयक मान्यताएँ व्यक्त की है। शंकरदेव और तुलसीदास के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। दोनो की रचनाओ में व्यक्त राजनीति सम्बन्धी विचार मूलत: दो प्रकार के मिलते है- (1) तत्कालीन व्यावहारिक राजनीति और (2) राजनैतिक आदर्श। आगामी अशो में शकरदेव और तुलसी के राजनैतिक विचारो को इन्हीं दो रूपो मे सश्लेषित-विश्लेषित किया जाता है।

तत्कालीन राजनीति

शंकरदेव और तुलसी की रचनाओ मे व्यक्त राजनीति से तात्पर्य है उस युग के छोटे-बडे राजाओ द्वारा प्रयुक्त व्यावहारिक राजनीति, जिसके दोनों प्रत्यक्षदर्शी और भोक्ता थे; जिनके कारण उनके भाव एव विचार प्रेरित-प्रभावित हुए थे। तद्युगीन परिस्थितियो मे व्याप्त राजनीति विषयक कुछ प्रमुख तथ्यों की ओर आवश्यक सकेत अग्रांकित है।

(क) **राजा** : राजा (सं राजन्) शब्द 'राज' धातु मे 'अन्' प्रत्यय जुटने से बना है जिसका अर्थ है दीप्त होना चमकना इत्यादि ' 'महाभारत' में राजा के लिए गुणो और कर्त्तव्यो इत्यादि की विवेचना हुई है जिसके अनुसार राजा मे दो गुण

होने आवश्यक हैं- (i) प्रजारंजन[6] (लोकरंजन) और (ii) प्रजापालन[7] (लोकरक्षण)। राज्य में सब प्रकार की अशांति और प्रजा की अरक्षिततता उपस्थित होने की सभावना होती है। तभी राज्यारोहण के समय राजाओं के लिए ऐसी प्रतिज्ञा करने की विधि थी कि मै भूमि पर ब्रह्मस्वरूप प्रजा का पालन करूँगा- 'पालभिष्याम्यह भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत।[8]' इसीलिए भारतीय राजनीति में राजा को काल का कारण अथवा नियामक माना गया है[9]। इस सिद्धान्त से राजा अथवा शासन ही विभिन्न कालचक्रों- सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलि का कारण होता है। सम्यक राजनीति (दण्ड-नीति) का परित्याग और असत् उपायों से प्रजा-पीडन करना ही कलियुग है[10]। शंकरदेव और तुलसी ने अपने समय के राजा और उनकी राजनीति के जो चित्र पौराणिक राजाओं के रूपको के मिस उपस्थित किये हैं, उनका मूल्यांकन उपरि उल्लिखित विचारों के परिप्रेक्ष्य में ही किया जाना चाहिए।

शंकरदेव और तुलसी ने राजा के लिए प्राय: नृप, नृपति, महिपाल, प्रभु नरनाथ, भूपाल, भूपति, महीप, महीस इत्यादि शब्द प्रयुक्त किये है। दोनो की दृष्टि मे भारतीय राज्य-शास्त्र में वर्णित धार्मिक राजे ही आदर्श हैं, किन्तु युगीन राजाओ को दोनो ने उसके विपरीत-अधार्मिक कहा है[11]। वे प्रजा को कष्ट देते है,[12] वे कृपालु नहीं हैं,[13] उनकी प्रकृति दानव जैसी है, साधु को कष्ट देना और दुर्जन को उत्साहित करना ही उनका कर्तव्य-सा है।[14] दोनों ने तत्कालीन राजाओं के कार्यों को म्लेच्छ के कार्यो के समान घोषित किया है[15]। पूरी राज-व्यवस्था अन्याय और अत्याचारपूर्ण है[16]। ऐसा लगता है मानों भूमिचोरों की संज्ञा ही भूप हो गयी है। राजे लोभी, अहकारी,[17] कामातुर,[18] अनाचारी-व्यभिचारी[19] हो गये हैं। प्रजा का विनाश करना ही उनका कार्य हो गया है[20]। तुलसी के शब्दो मे राजा और उसकी राजनीति का निम्नांकित चित्र तत्कालीन राजनीति को स्पष्ट करने में पूरी तरह समर्थ है-

गोड़ गवाँर नृपाल महि यमन महा-महिपाल।
साम न दाम, न भेद कलि, केवल दंड कराल।।[21]

तुलसी की उक्ति 'कलि केवल दड कराल' और महाभारत के 'यदा कात्स्न्येंन भूमिप। प्रजा क्लिश्नात्ययोगेन प्रविश्यति तदा कलि'[22] में प्राय: कोई अंतर नहीं है। शकरदेव और तुलसी ने तद्युगीन राजनीति को व्यक्त करने के लिए क्रमश कस और रावण के पौराणिक वृत्तो को स्वीकार किया है। कस और रावण की समाप्ति के पश्चात् जिन आदर्शो की दोनों कवियों ने स्थापना करनी चाही है, उन्हीं के लिए उन्होंने क्रमश: हरिश्चन्द्र भीष्मक [illegible] और राम राज्य के वर्णन उपस्थित किये हैं

(ख) प्रजा : राजा के अधार्मिक, भूमिचोर और अत्याचारी होने के कारण राज्य में अशांति, असुरक्षा और अधर्म की वृद्धि होना स्वाभाविक है। दोनों कवियो ने ऐसी स्थिति का वर्णन मूलतः 'कलि-वर्णन' के रूप में किया है। यद्यपि कलि-वर्णन पुराणाधृत है, तथापि केवल यही कहना उसमें व्यंजित युगीन कटु-सत्य को तिरस्कृत करना होगा। वस्तुत., उस समय शकरदेव के शब्दों में प्रजा का स्वभाव ही बिगड़ गया था[23]। प्रजा आचार का परित्याग कर लोभी और कामी बन गयी[24]। राजनीति का उद्देश्य मात्र धन प्राप्त करना बन गया था[25]। प्रजा ने अपने धर्म छोड़ दिये थे[26]।

तुलसी ने भी अपनी रचनाओं में तत्कालीन राजनीति के परिणाम-स्वरूप जन-साधारण की बिगडी हुई स्थिति का अनेकत्र कारुणिक वर्णन उपस्थित किया है। समाज में सर्वत्र हिंसा, पाखण्ड इत्यादि का बोलबाला था। प्रजा की यह स्थिति शासन की गलत नीतियों का परिणाम थी- 'दुरित-दारिद-दुःख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।'[27]

राजा और उनके मंत्री एवं अन्य राज-कर्मचारी कठोर हो गये थे। धन वसूलने के निमित्त प्रजा को कष्ट देते थे[28]। मात्र कर वसूलना ही उनका अभीष्ट था[29]। धर्म और न्याय का शासन में कहीं भी स्थान नहीं रह गया था[30]। देह-धर्म को प्रमुखता मिलने के कारण ही अत्याचार का अवलम्बन प्रमुख बन गया था[31]। कामाचार-वामाचार से समाज जीवन मलिन हो रहा था[32]। शंकरदेव और तुलसीदास के शब्दों मे-

शंकरदेव :

लोभाबिष्ट हुया कर्म करिबेक घोर। दारुण निर्दय दुष्ट पेन खाट चोर।[33]

तुलसीदास :

मारग मारि, महीसुर मारि, कुमारग कोटिक कै धन लीयो।[34]

परिणामतः 'नारि नर आरत पुकारत, सुनै न कोऊ।'[35] की स्थिति व्याप्त थी।

उपरि वर्णन से ऐसा अनुमान करना सहज है कि शंकरदेव और तुलसी कालीन समाज में राजनीतिक दुर्व्यवस्था थी। तत्कालीन राजाओं मे पारम्परीण आदर्श नहीं रह गये थे। शंकरदेव के कार्य क्षेत्र में राजे यद्यपि देशी ही थे, तथापि वे मानवतावादी राजनीतिक आदर्शो से च्युत थे। तुलसी के क्षेत्र में तो स्पष्टतः कुरान और हदीस पर आधारित विधर्मी और विदेशी मुगलो का शासन था। शकरदेव ने तत्कालीन राजनीतिक दुरवस्था के चित्र खींचने के लिए कस को प्रतीक के रूप मे स्वीकार किया और तुलसी ने रावण को

राजनैतिक आदर्श

शंकरदेव और तुलसीदास ने भारतीय परम्परा के अनुरूप ही राजनैतिक आदर्श भी स्वीकार किये हैं। दोनों ने राजनीति को धर्म के साथ ही रखा है। महाभारत में राजनैतिक आदर्श की व्याख्या करते हुए धर्म को केन्द्र मे स्वीकार कर धार्मिक राजा, धर्म प्रधान राष्ट्र और धार्मिक-प्रजा की बात स्वीकार की गयी है।[36] महाभारत की घोषणा है 'धर्माय राजा भवति न कामकारणाय तु।'[37] स्पष्ट है कि राजा की सिद्धता धर्म के पालन के लिए है। शंकरदेव ने राजा हरिश्चन्द्र, तुलसी ने दशरथ आदि की कल्पना धर्म-परायण राजा के रूप मे की है।

(क) राजनीति का आधार-राजधर्म : महाभारत में राजधर्म के रचयिताओ (राजशास्त्र प्रणेतार·) मे आठ नाम मिलते हैं- बृहस्पति, विशालाक्ष, शुक्र, सहस्राक्ष, महेन्द्र, प्राचेतस मनु, भरद्वाज और गौड़शिरस।[38] उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर चलनेवाली राज-व्यवस्था ही भारत में आदर्श स्वीकृत होती रही है। शंकरेदव और तुलसी ने इनमें से किनके मत के अनुरूप राजधर्म को स्वीकार किया है, इसका उल्लेख उनमें नहीं मिलता है। पुन· दोनो की रचनाओ में राजधर्म की कोई सुविचारित सैद्धान्तिक व्याख्या भी नहीं मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि परम्परा से मान्य राजधर्म सम्बन्धी मुख्य बातों से दोनो का परिचय था। असंभव नहीं कि शंकरदेव का कुछ ज्यादा परिचय रहा हो, क्योंकि वे स्वयं राजकुल से सम्बन्धित थे। दोनो की रचनाओ मे 'राजधर्म' शब्द गलत ढंग से ही प्रयुक्त हुआ है।[39]

प्राचीन राजनीतिविदो ने षाड्गुण्य[40] के पालन पर ही सप्तांग राज्य के ह्रास अथवा वृद्धि का निर्भर होना बताया है। शंकरदेव और तुलसी ने उनका अलग से नाम नहीं लिया है, पर जब वे दोनों राजधर्म के पालन की बातें करते हैं तो उनमे षाड्गुण्य के पालन की बात मानना समीचीन होगा। दोनो ही राजधर्म के रूप में 'वेदोक्त मार्ग' के पालन की स्पष्ट घोषणा करते हैं- 'राज कि रहइ नीति बिनु जानें।'[41] शंकरदेव के श्रीकृष्ण भीष्मक के शासन के बारे में भी कुछ ऐसा ही वर्णन करते है- 'राजधर्मे करन्त प्रजाक प्रतिपाल।'[42]

कौटिल्य द्वारा राजधर्म का सारांश निम्नांकित श्लोकों में स्वीकार किया जा सकता है-

प्रजासुखे सुखं राज्ञ प्रजानां च हिते हितम
नात्मप्रियं हितं राज्ञ प्रजानां तु प्रियं हितं

तस्मान्नित्योत्थितो, राजा कुमदिर्थानुशासनम्।
अर्थस्य मूलमुत्थानमनर्थस्य विपर्ययः।[43]

विवेच्य कवियों को भी ये बातें मान्य हैं। तुलसी के राम ने भरत से देश, कोष, कुटुम्ब, परिवार के साथ मुखिया का महत्त्व बतलाये हुए घोषणा की है- 'राजधरम सरबसु एतनोई।'[44] इसमें कौटिल्य द्वारा स्वीकृत प्रजासुख, उत्थान और अर्थानुशासन अर्थात् कोषवृद्धि को भी नीतिसम्मत राजधर्म का स्थान मिल गया है।[45] शंकरदेव के हरिश्चन्द्र के लिए राजधर्म के पालन का अर्थ है ब्राह्मणों को दान देना, आर्त का उद्धार करना, शत्रुओं के साथ न्याय हेतु संग्राम करना इत्यादि। शंकरदेव द्वारा वर्णित दैत्यराज बलि भी राजधर्म का पालन करनेवाला घोषित किया गया है।[46] लोकापवाद से बचना भी राजधर्म का एक अंग है जिसे शंकरदेव और तुलसी दोनो ने व्यावहारिक स्तर पर स्वीकृत तथा निरूपित किया है। शंकरदेव के हरिश्चन्द्र और तुलसी के राम इसका आदर्श प्रस्तुत करते है।[47]

(ख) **मंत्री-परिषद्** : राज्य के शासन में राजा के पश्चात् मंत्री और मत्री-परिषद् का स्थान होता है। शकरदेव और तुलसी युगीन राज-व्यवस्था में भी मत्रियो का विशेष महत्त्व था। किन्तु इससे सम्बन्धित उल्लेख विवेच्य कवियों की रचनाओ मे इतने अपर्याप्त है कि उनके आधार पर मंत्री अथवा मंत्री-परिषद् के स्वरूप, मंत्री-परिषद् के गठन और उनके विभिन्न कार्यों इत्यादि के सम्बन्ध मे व्यौरेवार जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

शंकरदेव की रचनाओं मे वर्णित प्रायः सभी राजाओं के साथ उनके मंत्रियो के उल्लेख हुए हैं, यथा- कस और उसका मंत्री,[48] भीष्म और उनके मंत्री,[49] यादव राज्य के उद्धव आदि महामंत्री,[50] रुक्मवीर और उनके मंत्री,[51] इन्द्रद्युम्न और उनके मत्री[52] इत्यादि। शकरदेव ने राज्य के सफल संचालन के लिए राजमंत्री को संतुष्ट करना राजा का आवश्यक कार्य स्वीकार किया है।[53] शंकरदेव ने मंत्री-परिषद् के लिए 'सभा',[54] 'समाज',[55] 'आलच'[56] जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। इन्द्र एवं देवताओ, बलि एवं दैत्यवर्ग,[58] श्रीकृष्ण एव श्रीकृष्ण के उद्धव आदि मंत्रीगण[59] इत्यादि के वर्णनो मे वैसे प्रयोग देखे जा सकते हैं।

तुलसी ने अपनी रचनाओं मे दशरथ के मंत्री सुमन्त,[60] जनक के मत्री शतानन्द,[61] रावण के मंत्री विभीषण[62] और माल्यवंत,[63] सुग्रीव के मंत्री हनुमान,[64] राम के मत्री सुग्रीव,[65] प्रतापभानु के मंत्री धर्मरूचि[66] के उल्लेख किये हैं। मंत्री-परिषद् विषयक उल्लेख शंकरदेव की अपेक्षा तुलसी में अधिक विस्तृत मिलता है। इस दृष्टि से राम के ॅ के अवसर पर दशरथ का मत्री परिषद् से विचार विमर्श करने[6]

सुग्रीव का अपने मंत्री-परिषद् के मंत्रणा करने,[68] रावण का अपने मंत्री-परिषद् से मंत्रणा करने,[69] राम एवं सुग्रीव-विभीषणादि का रावण से युद्ध करने से पूर्व मंत्रणा करने[70] के प्रसंग उदाहृत किये जा सकते हैं। तुलसी की दृष्टि में मंत्री केवल एक राज कर्मचारी अथवा अधिकारी ही नहीं, बल्कि राजा का सर्वाधिक विश्वासपात्र और हितैषी भी होता है। सुमंत दशरथ के लिए केवल मंत्री ही नहीं, 'प्रियतम' और 'सखा'[71] भी हैं। राम इत्यादि राजकुमार उन्हें 'चाचा' मानते हैं। सुग्रीव और विभीषण को राम 'सखा'[72] शब्द से सम्बोधित करते हैं। वस्तुतः ये सम्बन्ध राजा और मंत्री की परस्पर अंतरंगता के सूचक हैं।

शंकरदेव और तुलसी दोनो की रचनाओं में मंत्रियों के विशेष गुण अथवा मंत्री-परिषद् के गठन और कार्य इत्यादि के सम्बन्ध में ब्योरेवार उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु दोनों महाकवियो के राजे अपने प्रत्येक कार्य में मंत्री के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से तुलसी साहित्य में मंत्री और मंत्री-परिषद् से सम्बन्धित वर्णन शंकरदेव के साहित्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत और स्पष्ट है।

(ग) पुरोहित : भारतीय राजधर्म मे राजाओं के कुल-पुरोहितो, कुल-गुरुओ इत्यादि का विशेष स्थान रहा है। शंकरदेव और तुलसी दोनों के साहित्यो मे कुल-पुरोहित अथवा राज-पुरोहित विषयक उल्लेख भारतीय मान्यता के सर्वथा अनुरूप है। शंकरदेव ने राजा हरिश्चन्द्र के कुल पुरोहित वशिष्ठ,[73] नन्द के पुरोहित गर्ग,[74] दैत्यराज बलि के कुल-गुरु शुक्र[75] इत्यादि के उल्लेख किये हैं। इन कुल पुरोहितों के कार्य यजमानों के कुल, सम्पत्ति, राज्य इत्यादि की अभिवृद्धि के लिए ही होते हैं। ये इसके निमित्त या तो आशीर्वाद देते है, या कभी उत्तम राय प्रदान करते हैं, या कोई धार्मिक-याज्ञिक अनुष्ठान का आयोजन करवाते हैं। वस्तुत उनके सभी कार्यो का उद्देश्य राज्य और राज्यकुल की वृद्धि, राज्य में सुशाति इत्यादि की स्थापना होता है।

तुलसी-साहित्य में कुल पुरोहित वशिष्ठ का अद्वितीय महत्त्व है। वशिष्ठ केवल कुलपुरोहित और कुल गुरु ही नहीं, दशरथ-परिवार के सर्वाधिक आदरणीय एवं अभिन्न अंग हैं। उनकी ही राय को सुनकर पुत्रहीन दशरथ पुत्रवान बनते हैं। राम के अभिषेक के पूर्व दशरथ ने कुल गुरु वशिष्ठ से ही आज्ञा ली है।[76] वन जाते समय राम अपने अधीनस्थ दास-दासियों का दायित्व वशिष्ठ को सौंपकर ही निश्चिन्त होते हैं।[77] दशरथ की मृत्यु पर वशिष्ठ ही भरत को राज्य संभालने का आदेश करते है।[78] चित्रकूट में राम ने राज्य-शासन में कुलगुरु के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए स्वीकार किया है कि गुरु के की कृपा से ही राज्य कोष परिवार

इत्यादि सबकी जिम्मेदारी पूर्ण होती है[79]। श्रीराम का यह एक मतव्य ही राजगुरु के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। अयोध्या के राजकुल में तुलसी ने जो महत्त्व वशिष्ठ को दिया है, वही महत्त्व मिथिला राज्य में कुलगुरु वामदेव[80] को प्राप्त है।

स्पष्ट है कि दोनों कवियों ने राज-पुरोहित अथवा कुलगुरु का अतीव महत्त्व स्वीकार किया है। कुलगुरुओं को राज्य की ओर से प्रत्येक शुभ अवसर पर विशेष दान और उपहार दिये जाने के वर्णन दोनो कवियो ने किये हैं। प्राप्त विवरणो के आधार पर ऐसा कहना संगत है कि राज्य के संचालन में राजमंत्री की तरह ही राजगुरु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता है। कहीं-कहीं तो मंत्रियों की अपेक्षा राजगुरु को अधिक महत्त्व मिलता हुआ प्रतीत होता है।

(घ) राष्ट्र का भूभाग-ग्राम और नगर : प्रत्येक राज्य का एक निश्चित भूभाग होता है। दोनों कवियों के वर्णनों में राज्य के भूभाग के सम्बन्ध में कोई सैद्धान्तिक उल्लेख नहीं मिलता है। राज्य की समृद्धि के लिए किये जानेवाले कार्यो का भी उल्लेख प्राय: नहीं किया गया है। शंकरदेव और तुलसी ने अपनी रचनाओ मे जहाँ राजाओं के वर्णन किये हैं, वहीं उनके राज्यों, राज्य के कतिपय प्रमुख नगरो, ग्रामो इत्यादि के वर्णन भी हो गये हैं। विभिन्न नगरों की समृद्धि, वहाँ के भवन, बाजार, सड़कों इत्यादि के वर्णनों में कुछ तो पुराण इत्यादि उपजीव्य ग्रन्थो से वर्णन उधार लिये गये हैं और कुछ मुगलकालीन समृद्ध नगरों के प्रक्षेपन स्वरूप हैं।

शंकरदेव के साहित्य में राजा हरिश्चन्द्र के राजधानी-नगर अयोध्या,[81] कंस के राजधानी-नगर मथुरा,[82] श्रीकृष्ण के नगर द्वारका,[83] भीष्मक के कुण्डिलपुर,[84] विश्वकेतु की कौशाम्बी[85] के वर्णन हुए है। नगर-निवासियों के लिए शंकरदेव ने 'नगरीया लोक',[86] 'नागरि',[87] 'नागेरी'[88] इत्यादि शब्द प्रयुक्त किये हैं। इनमें अयोध्या, द्वारका और कुण्डिल नगर के वर्णनों में शंकरदेव ने विशेष रूचि दिखायी है। अधिकाश वर्णन पारम्परीण और आदर्श हैं। प्राय: सभी नगरो के वर्णन में उन्होंने रत्नमय गृह उद्यान में कल्पतरु जैसे वृक्ष, हाथी और घोड़ों से पटी हुई सड़कें, सुन्दर कमल इत्यादि पुष्पों से भरे हुए तालाब, धन-धान्य से समृद्ध घर-बाजार के उल्लेख किये है[89]। नगरो के अतिरिक्त शंकरदेव ने गोकुल जैसे छोटे गोप-गाँव[90] का भी उल्लेख किया है। इसी क्रम में शंकरदेव द्वारा अपने गांव 'बरदोवा'[91] का उल्लेख किया जाना भी महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया जायेगा। कुछ वनों के भी उल्लेख हुए हैं, जिनमे वृन्दावन को महास्थान[92] कहा गया है वस्तुत वर्णन चाहे गाँव का हो या नगर का

ये यथार्थपरक होने की अपेक्षा ... आ...रित ... ...गलों पहाडो और कभी-कभी गाँवों के भी वर्णन में असम की प्राकृतिक संरचना के प्रक्षेपण होने से यथार्थ का पुट आ गया है।

तुलसी ने अयोध्या, मिथिला[94] और लंका के राज्यों का उल्लेख किया है, किन्तु इनकी सीमा उन्होंने भी अनिर्दिष्ट ही रखी है। तीनों राज्यों की राजधानियों क्रमश. अयोध्या, जनकपुर और लंका का तुलसी ने भी बड़ा भव्य वर्णन किया है। इन नगरों के वर्णनों में तुलसी ने जहाँ पुराणगत सामग्री का उपयोग किया है वहीं मुगलों के वैभवपूर्ण नगरों के यथार्थ दर्शन से भी लाभ उठाया है। अयोध्या का वर्णन शकरदेव और तुलसी दोनों में मिलता है। दोनो द्वारा वर्णित अयोध्या नगरी समान रूप से समृद्ध प्रतीत होती है। तुलसी ने 'देखि नगर बिरागु बिसरावहि' (अयोध्या), 'बनइ न बरनत नगर निकाई'[96] (जनकपुरी) जैसी उक्तियों से नगरों के वैभव को सांकेतिक रूप मे शकरदेव की अपेक्षा अधिक कौशलपूर्वक उपस्थित किया है। तुलसी साहित्य में गाँव के उल्लेख नहीं हुए हैं, किन्तु राम के वनगमन-प्रसंग में ग्रामीण परिवेश के वर्णन हुए हैं[97]। तुलसी ने ग्राम और नगर के अतिरिक्त 'खेड़े' शब्द का भी प्रयोग किया है। इससे तत्कालीन जनपद का बोध होने में सहायता मिलती है।

सम्भवत. दोनो कवियों ने विभिन्न नगरों और गांवों, नदियो, पहाड़ों और जगलों के वर्णन किये है। ये वर्णन राज्य की समृद्धि के सूचक है जो उनकी पौराणिक पहचान के सूचक हैं। उन नगरों और गाँवों मे राजनीति विषयक चहल-पहल या राजनैतिक वातावरण प्राय: नहीं-सा मिलता है। सुकुमार राम, लक्ष्मण और सीता को वन जाते देख गाँव की नारियां खेद इसलिए प्रकट करती है कि ऐसे सुकुमार लोग जंगल में रह कैसे सकेंगे। उनके खेद का कारण यह नहीं है कि इनके साथ राजा ने अन्याय किया है। अयोध्या की प्रजा को चूँकि कैकेयी के कार्यों की जानकारी हो गयी है, इसलिए वह उसके प्रति क्रोध तो प्रकट करती हैं किन्तु राजनैतिक स्तर पर उसका समाधान खोजने में वह भी महत्त्वहीन है। वस्तुत. यह घटना तत्कालीन राजनीति को व्यंजित करने में समर्थ है कि राजा की आज्ञा अपरिवर्तित होती थी। शंकरदेव की रामायण (उत्तरकाण्ड) में सीता का निर्वासन भी इसी की पुष्टि करता है। इसी प्रकार कंस के आदेशो का गोकुल के गोपों द्वारा पालन किया जाना भी इसी का पोषक है। उस समय राज्य में रहनेवाले नगरवासी या ग्रामवासी का महत्त्व राजनीति निर्धारण में शून्य के लगभग होता था। अस्तु, कहा जायेगा कि दोनों कवियों के तद्विषयक वर्णन प्राय एक समान हैं।

(ङ) राजकोष : सभी राजशास्त्रियों ने राजकोष की समृद्धि पर बल दिया है। इसके लिए प्राचीन राजशास्त्रियों ने दो साधन बतलाये हैं- कर-वसूली और दूसरे राज्य की विजय से प्राप्त धन। शकरदेव और तुलसी दोनों ने राज्य के लिए कोष को पर्याप्त महत्त्व दिया है। कोष-सग्रह के दोनों उपायों के उल्लेख भी उनकी रचनाओं मे प्राप्त होते हैं, किन्तु सिद्धांतत: इसका कथन दोनो ने नहीं किया है।

शंकरदेव की रचनाओं में कर-वसूलने अथवा कर प्राप्त करने के उल्लेख कई स्थलों पर हुए हैं। अयोध्या नरेश हरिश्चन्द्र इतने प्रभावशाली थे कि अन्य नरेश उन्हें अतुलित धन कर के रूप में देते थे। इससे अयोध्या नगरी सब प्रकार से समृद्ध हो गयी थी।[98] कंस की मृत्यु के पश्चात् उग्रसेन के राजा बनने पर श्रीकृष्ण ने आश्वस्त किया है कि राज्य-सचालन के लिए राजाओं की कौन कहे, स्वयं देवता भी कर प्रदान करेंगे।[99] गोकुल के मुखिया नन्द कंस को कर देने के लिए मथुरा जाते है।[100] कर के लिए आवश्यक नहीं था कि केवल सोना-चाँदी, रुपये-पैसे ही दिये जाये दधि, दूध, घी इत्यादि वस्तुएँ भी कर में वसूल की जाती थीं।[101] अत्याचारी राजे प्रजा की हित-चिंता का ध्यान न करते हुए उन्हें तरह-तरह के कष्ट देकर भी कर वसूलते थे।[102] यहाँ तक कि वे दुर्भिक्ष और महामारी में भी कर नहीं छोड़ते थे।[103] इस कथन में युगीन उत्पीड़क राजनीति की छाया प्रतिभासित होती है।

तुलसी ने कोष की समृद्धि हेतु कर वसूलने के लिए साम, दाम, नीति को अपनाने और प्रजा के हित की रक्षा करने को महत्त्व दिया है।[104] उन्होंने कर वसूलने की प्रक्रिया के तीन भेद किये हैं- उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम प्रक्रिया वह है जैसे वृक्ष के पके फलों को तोड़ना, मध्यम प्रक्रिया है अधपके फल को तोड़कर घर मे पकाना और अधम प्रक्रिया है कच्चे फलो को पत्ते इत्यादि के साथ ही नोच डालना।[105] तुलसी की नजर कृषि प्रधान भारत पर थी, इसलिए उन्होने स्पष्ट मतव्य दिया है कि जब किसानों की फसल पक जाये, अनाज घर तक चले आये उस सम्पन्नता की स्थिति में ही राजाओं के लिए प्रजा से कर वसूलना उत्तम है। तुलसी ने अप्रत्यक्ष कर' को महत्त्व दिया है। इसलिए कर वसूलने की प्रक्रिया की तुलना उन्होंने सूर्य के द्वारा वाष्पीकरण की क्रिया से जल को सुखाने से की है। सूर्य जब जल को खींचता है, तब वह सबसे अलक्षित रहता है, किन्तु जब वर्षा के रूप में वहीं जल वह पृथ्वी पर लौटा देता है तो सभी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। अत. कर वसूलने की प्रक्रिया भी ऐसी होनी चाहिये कि प्रजा को कहीं कष्ट न हो और प्रजा की दयनीय स्थिति में राज्य को इतनी उदारता से सहायता करनी चाहिए कि पूरी प्रजा प्रसन्न हो जाये तुलसी के अनुसार बडे सौभाग्य से ही सूरज के समान कोई

प्रजानुरंजक राजा मिलता है।[106]

लूट के द्वारा धन-संग्रह करने का प्रत्यक्ष उल्लेख किसी ने नहीं किया है, पर कंस और रावण के अत्याचार के वर्णनों मे शंकरदेव और तुलसी ने तत्सम्बन्धी परोक्ष संकेत कर दिये है। विजय में प्राप्त धन से भी राजकोष की समृद्धि होती थी किन्तु शंकरदेव और तुलसी जैसे भक्त-कवियों की दृष्टि में यह कार्य निन्दनीय है। राजकोष में वृद्धि हेतु दोनों आलोच्य कवियों ने कर को अधिक महत्त्व दिया है। शंकरदेव ने जहाँ केवल कर-वसूलने के उल्लेख किये हैं, वहाँ तुलसी ने वसूलने की प्रक्रिया और उसमें भी प्रजा की हित-चिंता को अधिक महत्त्व दिया है। इससे तुलसी की उदार और व्यावहारिक नीति अधिक स्पष्ट हो सकी है।

(च) दण्ड और न्याय : सुयोग्य प्रशासन के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद को भारतीय राजशास्त्रियों ने स्वीकार किया है। शंकरदेव और तुलसी के साहित्य मे भी ये पारम्परीण रूप मे ही स्वीकृत हैं। तुलसी की मान्यता है कि प्रत्येक राजा के लिए साम, दाम (दान), दण्ड और भेद का योग्यतापूर्वक उपयोग आवश्यक है।[107] इनके कुशल उपयोग से ही न्याय व्यवस्था को ठीक से पालन करना संभव हो पाता है।[108]

शंकरदेव ने प्रत्येक राजा से दण्ड का उपयोग दुष्टो के दमन के लिए कराया है। हरिश्चन्द्र वन में आखेट के समय नारियों का करुण पुकार सुन उन दुष्टो को दलित करने के लिए अग्रसर होते हैं।[109] पृथ्वी रूपी धेनु और धर्म रूपी वृषभ के क्रन्दन से द्रवित हो राजा परीक्षित दुष्टो को दंडित करने के लिए सन्नद्ध होते है।[110] शंकरदेव के श्रीकृष्ण का अवतार ही दुष्टों के दलन के लिए हुआ है।[111] दण्ड-विधि के सम्बन्ध में शंकरदेव की मान्यता है कि दुष्टों को उचित दण्ड देने वाला राजा ही धार्मिक राजा है,[112] किन्तु निर्दोष व्यक्ति को दंडित करना धार्मिक राजे का कर्त्तव्य नहीं होता।[113] निर्दोषो को दंडित करनेवाले को शंकरदेव ने 'चंड' कहा है।[114] उनकी दृष्टि मे ब्राह्मण सदा अदण्डय होते हैं।[115] इसके विपरीत यदि दुष्टों को दण्डित न किया जाये तो उसका प्रभाव दूसरों पर पड़ेगा। राज्य में अधर्म और अन्याय की वृद्धि होगी, इसलिए सुशासन और सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए पापी और दुष्टो को दण्डित करना अनिवार्य है।[116]

दण्ड विषयक तुलसी के विचार भी शंकरदेव से मिलते जुलते ही हैं। उनके राम ताड़का,[117] सुबाहु,[118] खर-दूषण,[119] रावण[120] जैसे अत्याचारी और दुष्टों को दण्डित करते हैं। शंकरदेव और तुलसी दोनों की दृष्टि में ईश्वरीय अवतार का मूल कारण दुष्टो को दण्डित कराना ही है इसी के कारण धर्म और सज्जनो की रक्षा होती है[121]

तुलसी की दृष्टि मे अन्य नीतियो के विफल होने पर ही दण्ड का उपयोग होना चाहिए। राम को समुद्र जब तीन दिनों की विनयपूर्ण प्रतीक्षा के पश्चात् भी मार्ग नहीं देता है, तभी वे उसे दण्डित करने की बात सोचते है। उसी प्रसंग में तुलसी ने दण्ड के कुछ अधिकारियों- ढोल, गॅवार, शूद्र, पशु और नारी के भी उल्लेख किये हैं।[122] वस्तुत: शंकरदेव और तुलसी के साहित्यों में दण्ड और उसके विविध प्रकार के उदाहरण बहुतायत से किन्तु चलते रूप में ही प्राप्त होते हैं।

दाम के उपयोग का शंकरदेव और तुलसी के साहित्य से एक-एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। पृथ्वी रूपी गौ और धर्म रूपी वृषभ को सतानेवाले कलि को परीक्षित दण्ड देने का उद्योग तो करते हैं, पर केवल भय दिखाकर ही उसे छोड देते हैं।[123] श्रीकृष्ण द्वारा कालिय दमन[124] का वर्णन भी दाम का ही उदाहरण माना जायेगा। इसी प्रकार तुलसी के राम का सुग्रीव के लिए लक्ष्मण को दिये जानेवाले आदेश- 'भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव'[125] भी दाम का ही उदाहरण है।

सुशासन का एक आधार योग्य न्याय-व्यवस्था भी होता है। आलोच्य कवियो की रचनाओं में न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी भी कुछ उल्लेख मिलते हैं। शंकरदेव के परीक्षित द्वारा कलि के प्रति किये गये न्याय उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने कलि को जुआ, शतरंज, मद्यपान, वेश्यालय, सोना इत्यादि में निवास करने की अनुमति दी है।[126]

शकरदेव की अपेक्षा तुलसी-साहित्य में न्याय विषयक उल्लेख किंचित् अधिक मिलते हैं। तुलसी द्वारा वर्णित रामराज्य-राम के सुशासन और योग्य न्याय-व्यवस्था का ही परिणाम है, जिसमें दण्ड केवल संन्यासियों के हाथ में रह गया है और भेद नर्तक समाज में।[127] राम राज्य के न्याय का ही यह परिणाम है कि सभी उदार और उपकारी[128] है एवं चारों वर्णों के लोग अपने-अपने धर्मो के अनुरूप काम में जुटे रहते हैं। 'मानस' में वर्णित 'राम-राज्य' से स्पष्ट है कि किसी को किसी प्रकार की शिकायत नहीं थी। न्याय के लिए राम के दरबार में किसी को शिकायत करने की नौबत ही नहीं आती थी। किन्तु तुलसी की अन्य रचनाओं में 'खग-उल्लू',[12] 'श्वान'[130] और 'यति'[131] को न्याय के लिए राम के पास जाना पडा था और उन्हें उचित न्याय मिले थे।

उपरि वर्णन के आधार पर कहा जायेगा कि आलोच्य कवियों का ध्यान राज्य मे सुशासन पर टिका है, जिसके लिए वे परम्परा से स्वीकृत साम, दाम, दण्ड और भेद को समान रूप से स्वीकार करते हैं। दण्ड का उपयोग दोनों को दुष्टों के दलन और योग्य न्याय स्थापन के लिए मान्य हैं

(छ) युद्ध और योधन नीति : युद्ध और योधन नीति राजनीति का एक प्रमुख अंग है। इस सम्बन्ध में शंकरदेव और तुलसी की रचनाओं में भी विवरण प्राप्त होते हैं।

युद्ध अपने आप में एक ऐसी जटिल प्रक्रिया है जिसमें अनेक प्रकार के छल-छद्म और तरह-तरह की योजनाओं की आवश्यकता पड़ती है। इस दृष्टि से युद्ध के पूर्व मंत्रणा, युद्ध मे दूतों और गुप्तचरो के उपयोग, युद्ध के लिए अस्त्र-शस्त्र-वाहन और सेना की तैयारी, युद्ध मे सेना का संचालन, युद्धों में प्रयुक्त किये जानेवाले कौशल इत्यादि का विशेष महत्व होता है। भक्त और धार्मिक प्रवृत्ति के होने के बावजूद आलोच्य दोनों कवि युद्ध और योधन नीति से बहुत दूर तक परिचित थे। इसका आगामी पंक्तियों में अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है।

(i) युद्ध के प्रकार : आलोच्य कवियों द्वारा वर्णित युद्ध दो प्रकार के हैं- वैयक्तिक और सामूहिक। वैयक्तिक युद्ध के उदाहरण के रूप में 'मल्ल युद्ध' उल्लेखनीय है। शंकरदेव द्वारा वर्णित पूतना-वध..[132] तृणावर्त-वध,[133] वकासुर-वध[13] अघासुर-वध,[135] धेनुकासुर-वध,[136] प्रलम्बासुर-वध,[137] कुवलय-वध,[138] कंस-वध,[139] कालयवन-वध,[140] वशिष्ठ- विश्वामित्र युद्ध,[141] कृष्ण-इन्द्र युद्ध[142] इत्यादि वैयक्तिक युद्ध के उदाहरण है।

सामूहिक युद्धों में अपरिमित सैन्य बल के साथ ही अधिकाधिक शक्ति का भी क्षय होता है। शंकरदेव द्वारा वर्णित मथुरा पर जरासंध का आक्रमण,[143] रुक्मिणी-अपहरण के अवसर पर श्रीकृष्ण का रुक्म एवं उनकी सेनानियों के साथ युद्ध,[14] देव-दानव युद्ध,[145] सामूहिक युद्ध के उदाहरण माने जायेंगे। तुलसी द्वारा वर्णित अधिकांश युद्ध प्रायः सामूहिक युद्ध के ही उदाहरण बने हैं- जिनमें राम-रावण-युद्ध[14] सर्वोपरि है।

आलोच्य कवियों में युद्धों के जो विवरण प्राप्त हैं, उनके आधार पर वे कुछ और वर्गों में रखे जा सकते है-

1. मानव का मानव से युद्ध : भरत आदि का लव-कुश के साथ; कृष्ण-रुक्म
2. मानव का राक्षस/ असुर से युद्ध : कृष्ण-कालयवन, राम-रावण
3. वानर का वानर के साथ युद्ध : सुग्रीव-बालि
4. देवता का असुर-दानव के साथ युद्ध : देवासुरसंग्राम
5. राक्षस का वानर-भालू के साथ युद्ध : हनुमान-सुग्रीवादि का लंका के राक्षसों के साथ युद्ध

6. पुरुष का स्त्री के साथ युद्ध : कृष्ण-पूतना, राम-ताड़का, हनुमान-लंकिनी

7. पक्षी का पक्षी के साथ युद्ध : बक-शरालि

8. माया युद्ध : मेघनाद-लक्ष्मण

इनमे अधिकाश युद्धों में वर्णन की भयंकरता मिलती है। मेघनाद के माया-युद्ध से निपटने के लिए राम-पक्ष को भी माया-युद्ध की पद्धति अपनानी पड़ती है। तात्पर्य यह है कि युद्धों के विभिन्न प्रकारों के वर्णन दोनों कवियों ने किये हैं।

(ii) युद्ध-मंत्रणा : युद्ध के पूर्व मंत्रियों, सेनापतियों और सेना परिषद् से मत्रणा आवश्यक है। एतद्विषयक उल्लेख शंकरदेव और तुलसी दोनों में मिलते है। शकरदेव द्वारा वर्णित देव-दानव युद्ध के पूर्व दैत्यों की गुप्त मंत्रणा होती है।[14] रुक्मिणी के अपहृत किये जाने पर जरासध-शिशुपाल आदि की मंत्रणा का उल्लेख भी शंकरदेव ने किया है।[148] तुलसी के राम और रावण दोनों युद्ध के पूर्व युद्ध मत्रणाएँ करते हैं। राम की सुग्रीव-विभीषण आदि सचिवों के साथ मंत्रणा महत्वपूर्ण है।[149] विभीषण से तो राम कानों-कान सलाह करते है।[150] इससे मंत्रणा की गोपनीयता का सकेत होता है। मंत्रणा करते समय राम के शिविर में बरती जानेवाली सावधानी का भी तुलसी ने अच्छा परिचय दिया है। रमणीय सुबेल पर्वत पर एकात मे राम सावधानी के मध्य ही अपने सचिवों से मंत्रणा करते हैं।[151] तुलसी ने रावण की मंत्रणा का भी वर्णन किया है।[152] तात्पर्य यह कि युद्ध के पूर्व की जानेवाली मंत्रणा की ओर दोनों कवियो का ध्यान गया है।

(iii) दूत और गुप्तचर . भारतीय राजधर्म में गुप्तचरो को राजा की ऑख से उपमित किया गया है। युद्ध एवं राज्य में सुव्यवस्था स्थापन के प्रसंगों में दूत और गुप्तचर का अत्यन्त महत्त्व है। राज्य की गुप्त सूचना को एकत्र करने के क्रम मे शकरदेव ने गुप्तचर का उल्लेख किया है।[153]

तुलसी के साहित्य में युद्ध के लिए दूतों और गुप्तचरों के उपयोग के योग्य विवरण मिलते हैं। युद्ध के पूर्व राम अगद को रावण के दरबार मे दूत बनाकर भेजते है।[154] रावण-अगद सवाद के रूप मे इसे तुलसी ने अधिक महत्त्व दिया है। दूत सदा अवध्य होते है, रावण ने क्रोधावेश में अंगद को मार डालने का आदेश दिया है।[155] पर अवध्य होने के कारण ही वह छोड दिया जाता है। खर-दूषण भी युद्ध के पूर्व राम के पास दूत भेजते हैं।[156] युद्ध में गुप्तचरों के प्रयोग का उल्लेख भी तुलसी ने किया है। राम-पक्ष के भेद को जानने के लिए ही रावण ने शुक को गुप्तचरी के लिए राम के शिविर मे भेजा है वह पकडे जाने पर भी छोड दिया जाता है और रावण के पास लौ[illegible]कर वहा का सारा भेद [illegible] है[5] [illegible] तथ्यो के आधार

पर कहा जायेगा कि तुलसी की रचनाओ में युद्ध में दूतो और गुप्तचरो का जो महत्त्व दिया गया है, शंकरदेव की रचनाओं में उसका अभाव है।

(iv) अस्त्र-शस्त्र और वाहन : शंकरदेव और तुलसी दोनों ने युद्धों मे प्रयुक्त होने वाले विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों के उल्लेख किये हैं। इनमें अधिकांश पाम्परीण है। धनुष, खाण्डा, गदा, मुदगर, परशु, मुषल, ब्रह्म अस्त्र, सुदर्शन चक्र, परिघ, पट्टिश, शूल, तोमर, त्रिशूल, शेल, भुषण्डिक, क्षुर, त्रिकांटिका, कानियाल, अर्धचन्द्र, प्राश, चक्र, भिंडीपाल, मल्ल, के उल्लेख शंकरी साहित्य मे मिलते हैं।[58] तुलसीदास ने भिडीपाल सागी (बरछी), तोमर, मुदगर, फरसा, शूल, दुधारी तलवार, परिघ, धनुष-वाण, शक्ति, कृपाण आदि के उल्लेख किये हैं।[159] तुलसी साहित्य में बन्दरों और राक्षसों द्वारा प्रयुक्त होने वाले हथियारों में वृक्ष की डालियाँ, चट्टान, नख, दाँत इत्यादि को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हैं।

युद्ध के वाहनों में दोनों कवियों ने हाथी, घोडे और रथ का उल्लेख किया है। शकरदेव ने दैत्यो के वाहनों के रूप में गर्दभ, बाघ, घोंग, सूअर, भैंसा, शरभ भालुक, सियार, मगर, कुंभीर, गीध, हंस, मृग, गण्ड, छाग, ऊँट, सर्प, बन्दर, साँढ, कुकुर (कुत्ता) इत्यादि के भी उल्लेख किये हैं।[160] युद्ध के वाहनों में तुलसी ने जलजन्तु के साथ ही गदहों को भी स्वीकार किया है।[161]

दोनो कवि युद्धास्त्रो और वाहनो के उल्लेख में प्राय पौराणिक आदर्शो को ही अधिक प्रतिबिम्बित करते हैं। युद्ध के मुख्य वाहन के रूप मे दोनों कवियो ने घोडे, हाथी और रथ को पर्याप्त महत्त्व दिया है।

(v) सेना और संचालन : युद्ध में विजयश्री सैन्यबल और उसके कुशल सचालन पर ही अधिक निर्भर है। आलोच्य कवियो ने विभिन्न प्रकार की सेना का उल्लेख किया है- चतुरंग दल,[162] पदातिक,[163] अश्वारोही, गजारोही और रथी[164] इत्यादि। शकरदेव ने अलग से कुछ सैन्य टुकड़ियों का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है। इस दृष्टि से यादवगण,[165] देवदल और दानवदल[166] के नाम लिये जा सकते हैं। पुन अलग-अलग युद्धो में अलग-अलग सेनापतियों के साथ उनकी सेनाओं के उल्लेख मिलते हैं।

तुलसी साहित्य में वर्णित सैन्यदल भी अलग-अलग टुकडियों मे बँटा है, जिसकी सम्मिलित सज्ञा बानर-सेना है। किन्तु उसमे विभिन्न रगवाले भालुओ इत्यादि की अलग-अलग टुकड़ियाँ हैं। राम की समूची बानरी सेना कितनी रही होगी इसकी कल्पना केवल इसीसे की जा सकती है कि केवल यूथपतियों की सख्या अठारह पद्म उल्लिखित है।[167] रावण की सेना को तुलसी ने अपरिमित कहा है।[168]

सैन्य-संचालन के समय और कभी-कभी युद्ध के बीच विभिन्न प्रकार के रणवाद्यो के उल्लेख दोनो में मिलते हैं।[169] युद्ध के लिए सैन्य-प्रयाण के पूर्व यूथपतियो द्वारा सेना का निरीक्षण भी महत्त्वपूर्ण है। राम की सेना के यूथपति हनुमान, अंगद, विभीषण, सुग्रीव, नल आदि भी अपने-अपने युद्धों का निरीक्षण करते हैं-

कपिपति बेगि बोलाए आए जूथप जूथ।

X X X

देखी राम सकल कपि सेना।[170]

यद्यपि शंकरदेव में सेनापति द्वारा इस प्रकार निरीक्षण किये जाने का उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि सैन्य-संचालन के पूर्व उसके टुकड़ियों में एकत्र होने का उल्लेख हुआ है।[171] तुलसी ने युद्ध के पूर्व राम और रावण दोनों द्वारा सेना के सजाये जाने एवं अपने-अपने यूथपतियो को आवश्यक निर्देश- आदेश दिये जाने के उल्लेख किये हैं। युद्ध के लिए रावण द्वारा लंका के चारो द्वारों पर अलग-अलग चार टुकड़ियों को नियुक्त करना उसी नीति का व्यावहारिक रूप है। राम की सेना भी चार टुकड़ियों में बंटकर उसका वैसा ही मुकाबला करती है।[172] कहा जायेगा कि सैन्य-संचालन का जैसा क्रमबद्ध वर्णन तुलसी में प्राप्त है, वैसा शंकरदेव में नहीं।

(vi) योधन-नीति · योधन-नीति का तात्पर्य है युद्ध के मध्य काम में लायी जानेवाली नीति। भारतीय राजधर्म में इसके लिए कुछ सर्वमान्य नियम थे, जिनपर उभय-पक्ष को अमल करना पड़ता था। किन्तु आपद-धर्म में उनका पालन करना आवश्यक नहीं भी होता था। शंकरदेव और तुलसीदास दोनों की रचनाओ मे योधन-नीति सम्बन्धी कुछ बातें मिलती हैं, किन्तु उनका क्रमबद्ध कथन कहीं नहीं हुआ है। व्यवहार में निम्नांकित बातें दिखायी पड़ती है-

1. युद्ध केवल दिन में ही होता है, रात में नहीं।
2. असहाय स्थिति में शत्रु का वध नहीं किया जाता है।

राम-रावण के युद्ध मे भी ये नियम मान्य रहे हैं।[173] रावण के मूर्च्छित होने पर जाम्बवंत उसकी हत्या नहीं करते, केवल लात मारकर चल देते हैं।[174] लक्ष्मण के मूर्च्छित होने पर मेघनाद भी उनकी हत्या नहीं करता है।[175]

शंकरदेव और तुलसी दोनों ने युद्धों को क्षत्रियों का धर्म घोषित किया है। राम की स्पष्ट घोषणा है- 'हम छत्री मृगया बन करही, रिपु बलवंत देखि नहि डरहीं। एकबार कालहु सन लरहीं।'[176] शंकरदेव ने युद्ध के सम्बन्ध में अपना मत दिया है कि कोई जीतकर भी हारता है और कोई हार कर भी जीतता है इसमें मान की बात नहीं होती [7] भक्त होने के कारण शकरदेव और तुलसी दोनो

युद्धों को जनहित की दृष्टि से बुरा मानते है, पर अपरिहार्य होने पर धर्म रक्षार्थ युद्ध श्रेयस्कर है। युद्ध में विजय-प्राप्ति को दोनों ने मुख्य लक्ष्य स्वीकार किया है-

शंकरदेव : बैरक मारिले दोष नाहिके मिळात।
चले बले शत्रुक करियो कन्धपात।।[178]

तुलसीदास : रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई।
रिपु पर कृपा पर कदराई।।[179]

शत्रु को छोटा अथवा निर्बल मानना युद्ध नीति की दृष्टि से भूल है। इन उक्तियों के आधार पर ऐसा निष्कर्ष निकालना असगत होगा कि शत्रु पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग दोनों कवियो ने युद्ध को ही स्वीकार किया है। शत्रुओं को मैत्री और प्रेम के आधार पर ही जीतना अधिक उत्तम होता है। शकरदेव की मान्यता है-

(क) प्रीति करि साधा कर्म प्रीति वश्य हुये राज
कन्दलत परे नाइ मन्द।[180]

(ख) मित्र भावे येन मते शत्रु करि क्षय।
कन्दले नोवारि ताक जानिबा निश्चय।।[181]

शंकरदेव की इन उक्तियों के समकक्ष ही तुलसी द्वारा स्वीकृत दाम और भेद नीति ठहरती है।

दोनों कवियों की रचनाओं में युद्ध और योधन-नीति सम्बन्धी आवश्यक विवरण प्राप्त हैं। विभिन्न युद्धों की भयकरता के दोनों ने जो वर्णन किये है वे यहा वर्णन विस्तार की दृष्टि से ही नहीं रखे गये है।[182] जहां तक यौद्धिक विषयो के क्रमिक और सूक्ष्म विवरण का प्रश्न है उसमें शंकरदेव की अपेक्षा तुलसी बीस पड़ते है। तुलसी के वर्णन में विश्वसनीयता अधिक है।

आदर्श राजा

भारतीय मान्यता के अनुसार आदर्श राजा को धार्मिक होना चाहिये। लोक-रजन और लोक-रक्षण के गुणों का उसमे होना आवश्यक है। ये शकरदेव और तुलसी के भी मान्य है। दोनों ने धार्मिक राजा को ही आदर्श स्वीकार किया है।[183] राजा के लोकरक्षक और लोकरजक गुणों को महाभारतकार ने मूर्तता प्रदान करते हुए प्रजा को पुत्र और राजा को माता-पिता स्वीकार किया है।[184] तात्पर्य यह है कि राजा के लिए प्रजा का पुत्रवत् पालन करना सर्वोपरि कर्त्तव्य है। शंकरदेव ने प्रजावत्सल राजा की प्रशंसा की है[185] आदर्श राजा की उसकी शासन से ती है यदि रा मे शाति सुख और समृद्धि हुई तो यह आदर्श स्थिति उसकी

शासन नीतियो की सुव्यवस्था का परिणाम होती है शकरदेव और तुलसी दोनो ने अपनी रचनाओ मे इनकी कल्पनाए की है। तुलसी के शब्दों में पृथ्वी रूपी गौ प्रजावत्सल और धार्मिक चरित्रवान राजा के चरित्ररूपी चारे को चरकर दुःख रहित हो दुग्धवती होती है और प्रजारूपी सुन्दर बछड़े के द्वारा चोखे जाने पर पेन्हाती है।[186] इन गुणों से युक्त राजा को शकरदेव ने 'सर्वभूतमय' कहा है।[187] तुलसी ने प्रजावत्सल राजाओ की तुलना माली, भानु और किसान से की है।[188] प्रजापालन के अभाव में राजा कर्त्तव्यच्युत समझा जाता है। शंकरदेव और तुलसी जैसे धार्मिक भक्तों की दृष्टि में देवता-द्विज और गुरु के प्रति राजा मे भक्ति होना शुभ है। उनकी दृष्टि में वैसे राजे तेजस्वी होते हैं।[189] तुलसीदास ने साम-दाम-दण्ड-भेद के सम्यक गुणों से युक्त राजा को उत्तम माना है और उन्हे 'नीति धरम के चरन सुहाए'[190] कहा है। प्रजापालन को दोनों ने सर्वाधिक महत्त्व दिया है। वन जाने के पूर्व 'मानस' में राम ने भरत के लिए जो सन्देश छोडा है, उसमें भी प्रजापालन को ही महत्त्व मिला है-

> कहब संदेसु भरत के आएँ। नीति न तजिअ राजपदु पाएँ।।
> पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेएहु मातु सकल सम जानी।।[191]

यही बात चित्रकूट में भिन्न शब्दों में पुनः दोहरायी गयी है : 'पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी।'[192] नारियों के आर्त पुकार पर उनका शंकरदेव के हरिश्चन्द्र द्वारा उद्धार किया जाना[193] राजा के प्रजा-पालन का ही आदर्श उपस्थित करता है। वस्तुतः दोनो के काव्यों में उल्लिखित हरिश्चन्द्र, भीष्मक, युधिष्ठिर, बलि, विश्वकेतु, परीक्षित सत्यकेतु, प्रतापभानु, रामचन्द्र इत्यादि आदर्श राज्य के गुणों से ओत-प्रोत है। यद्यपि वे राजे काल-कवलित हो गये हैं, पर उनके आदर्श पृथ्वी पर अब भी जीवित हैं।[194] प्रजापालन के आदर्श को विभिन्न राजाओं ने कितना महत्त्व दिया था, यह दोनो कवियों की उक्तियों से प्रमाणित है। यथा-

हरिश्चन्द्र : पुत्रतो अधिक दशगुणे पाले प्रजा।[195]
बलि : पितृ येन पुत्रक पालय रात्रि दिने।[196]
राम : पुत्रवते प्रजाक पालन्ते यान्त राम।[197]
भीष्मक : पुत्रवते करे राजाक प्रजाक पालन।[198]
युधिष्ठिर : पुत्रवते करिला प्रजाक प्रतिपाल।[199]
परीक्षित : पुत्रवते पालि प्रजा एहिमते महाराजा
आछा येवे हस्तिनापुरत।[200]
सत्यकेतु धरम धुरंधर नीति निधाना तेज प्रताप सील

प्रतापभानु : अरथ धरम कामादि सुख सेवइ समयं नरेसु।[202]

दशरथ : धरम धुरन्धर गुननिधि ग्यानी।
हृदयँ भगति मति सारँगपानी।[203]

राम : धरम सेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुखदाता।[204]
प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।[205]

तुलसी के राम तो इतने प्रजावत्सल हैं कि उनका राज्य ही आज तक आदर्श राज्य के रूप में स्वीकृत रहा है। और भारतीय समाजशास्त्री की एकमात्र आकांक्षा 'रामराज्य' की स्थापना होती है। वस्तुत. तुलसी ने यह सिद्धान्त ही बना लिया है कि प्रजा का पितृवत् पालन-पोषण करनेवाला राजा ही श्रेष्ठ है।[206] शंकरदेव और तुलसी के कृष्ण और राम भक्तवत्सल हैं। दोनों उनकी भक्तवत्सलता का बार-बार वर्णन करते हुए अघाते नहीं है। वस्तुत: कृष्ण और राम की भक्ति के क्षेत्र की भक्तवत्सलता ही राजनीति के क्षेत्र में प्रजावत्सलता का रूप ले लेती है।

आदर्श प्रजा और राजा के साथ उसका सम्बन्ध

'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार यदि राजा आदर्श होता है, तो उसकी प्रजा भी आदर्श ही होगी। उत्तम राजनीति न केवल राज्य में सुशासन का कारण बनती है, बल्कि राजा-प्रजा के सम्बन्ध को भी मधुर बनाती है। कवि शंकरदेव के काव्य मे राजा हरिश्चन्द्र और भीष्मक एवं उनकी प्रजा के मध्य सम्बन्धों को इस दृष्टि से उदाहृत किया जा सकता है। श्रीकृष्ण यद्यपि राजा नहीं है, तथापि अधिकांश वर्णनों में वे गोकुल के मुखिया नन्द के पुत्र और लोकरक्षक रूप में ही उभरे है। सामान्य जनता से उनके सम्बन्ध इसी दृष्टि से उदाहृत किये जा सकते है।

शकरदेव के हरिश्चन्द्र अपनी प्रजा के मध्य कितने लोकप्रिय हैं, इसका अनुमान केवल इस बात से किया जा सकता है कि जब वे विश्वामित्र को अपना राज्य सौंपकर जाने लगते है तो उस समय प्रजा की स्थिति करुण हो उठती है।[207] उस समय की उक्तियाँ यह सिद्ध करती है कि अपनी प्रजा से राजा हरिश्चन्द्र के सम्बन्ध पिता-पुत्र के ही थे।[208] इसी प्रकार जब राजा हरिश्चन्द्र पर देवताओं की कृपा होती है और वे जब स्वर्ग जाते हैं, तो अपनी सारी प्रजा को अपने साथ ले जाना चाहते हैं। सारी प्रजा के साथ उन्हें नरक में भी रहना प्रिय है।[209] प्रजा के प्रति राजा हरिश्चन्द्र की यह उक्ति राजा-प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है-

यतेक सिजिल कर्म प्रजारेसे बले।
प्रजा येबे नाहि किबा करिबो एकले।।[210]

वे अन्ततः सारी प्रजा एवं अपने राज्य के पशु-पक्षी इत्यादि के साथ ही स्वर्ग जाते है।[211] इस प्रकार राजा और प्रजा के सम्बन्धों की दृष्टि से राजा हरिश्चन्द्र और उनकी प्रजा आदर्श हैं। उत्तरकाण्ड 'रामायण' में भी शंकरदेव ने राम और उनकी प्रजा का ऐसा ही सम्बन्ध वर्णित किया है। सीता के सन्ताप से प्रजा विलख उठती है।[212] राम का प्रजा के साथ पितृवत् व्यवहार रहा है।[213] स्वर्गारोहण के समय दिव्य विमान पर वे सारी प्रजा को साथ लेकर ही स्वर्ग जाते हैं।[214] शंकरदेव का दैत्यराज बलि और कुण्डिल नरेश भीष्मक भी सच्चे प्रजापालक नरेश के रूप में ही अंकित हैं।

गोकुल के मुखिया नन्द हैं। बूढे नन्द के पुत्रवान बनने पर पूरा गोकुल आनन्द मग्न होता है। उन्हें सभी बधाई देते हैं।[215] नन्द-पुत्र श्रीकृष्ण यद्यपि सामान्य गोप-बालक हैं, तथापि वे अपने लोक रक्षक एवं लोकरंजक कृत्यों से पूरे गोप-मंडली और अन्ततः पूरे अंधक-वृष्णि वंश के नेता बन जाते हैं। यद्यपि वे राजा नहीं है, तथापि उनके कृत्य किसी राजा से कम नहीं हैं और शंकरदेव ने समस्त प्रजा के साथ उनके मधुर सम्बन्धों का बार-बार उल्लेख किया है।[216] मधुर सम्बन्ध के कारण ही उनके विवाह के अवसर पर देवता-गन्धर्व-नाग आदि भी आमंत्रित किये जाते हैं[217] और शत्रु-मित्र सभी उपस्थित भी होते हैं।[218]

शंकरदेव की तरह तुलसी ने भी अपनी रचनाओं में राजा-प्रजा के मध्य मधुर सम्बन्धो का वर्णन किया है। तुलसी द्वारा अंकित प्रतापभानु, दशरथ, जनक जैसे राजे बराबर अपनी प्रजा की हित-चिंता में लगे हैं। दशरथ के राम का अपनी प्रजा से तो ऐसा सम्बन्ध है कि राम-राज्य एक स्थायी मानदण्ड बन जाता है। राजा दशरथ के प्रति उनकी प्रजा की आत्मीयता इसीसे स्पष्ट है कि राम-जन्म का समाचार पाकर सारी अयोध्या मे खुशी की लहर दौड़ जाती है।[219] आगे राम के व्यवहार से प्रजा इतनी आकृष्ट होती है कि सुख और दुःख के अवसर पर वह बराबर उन्हीं के साथ सुखी या दुखी होती है। अवसर चाहे राम के विवाह का हो,[220] चाहे राम का राज्यारोहण या राम के वन गमन का,[221] या राम के वन से लौटने का, राजा के सुख से प्रजा सुखी होती है और दुख से दुखी होती है। प्रजा की मान्यता- 'जहॉं रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू।'[222] राम के प्रति प्रजा के सम्बन्ध को व्यक्त करने मे पूरी तरह समर्थ है। राम वियोग की अनुभूति केवल नर नारियो को नहीं पशु पक्षियो तक को भी होती है।[223] वनवास की अवधि खत्म

होने के समय प्रजा मे राम के दर्शन के लिए बेचैनी दिखायी पड़ती है[224] और उनके अयोध्या आने पर भरत के साथ सारी प्रजा उनका स्वागत करती है।[225] राम का अपनी प्रजा के साथ विभिन्न लोकोत्सवों में भाग लेना उनके प्रजारंजक रूप को स्पष्ट करता है।[226]

उपरि वर्णन के आधार पर कहा जायेगा कि शंकरदेव और तुलसी दोनों को राजा और प्रजा के मध्य मधुर सम्बन्ध ही मान्य हैं। इसका वर्णन दोनों में प्राय समान ढंग से हुआ है। दोनो के साम्य ही अधिक है, वैषम्य नहीं। वस्तुत: दोनो की दृष्टि से आदर्श प्रजा, राज्य की सुख-समृद्धि के लिए आवश्यक कर्म तो करती ही है, राजा के प्रत्येक सुख-दुख में साथ भी देती है।

आदर्श राज्य

शंकरदेव और तुलसी दोनों को राज्य का आदर्श रूप मान्य है। उन्होंने संभवत: अपने-अपने ढंग से आदर्श राज्यों की कल्पनाएँ की हैं। इस दृष्टि से आदर्श राज्य सम्बन्धी सैद्धान्तिक विशेषताओं का उल्लेख दोनों में किसी ने नहीं किया है, किन्तु शंकरदेव की अपेक्षा तुलसी के विचार अधिक स्पष्ट हैं। एक रूपक के माध्यम से तुलसी ने तत्कालीन मुगल शासन को रावण-राज्य अथवा निसिचर-राज्य स्वीकार किया है।। इसीके निमित्त उन्होंने राम से प्रतिज्ञा करवायी है- 'निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।'[227] तुलसी की सम्पूर्ण राम-कथा इसी लक्ष्य को लेकर अग्रसर होती है और अन्तत. राम-राज्य की स्थापना में समर्थ होती है। शकरदेव के साहित्य में विभिन्न राजाओं के राज्यों को आदर्श तो घोषित किया गया है, किन्तु जिन कारणों से वे आदर्श हैं, उसका तुलसी जैसा स्पष्ट ब्यौरेवार अंकन नहीं हुआ है। तुलसी द्वारा वर्णित राम-राज्य की विशेषताओं के आधार पर आदर्श राज्य विषयक कई मान्यताएँ स्थिर की जा सकती है।

शंकरदेव और तुलसी ने आदर्श राज्य को चक्रवर्तित्व के सिद्धान्त के अनुरूप ही स्वीकार किया है। शंकरदेव ने हरिश्चन्द्र[228] और युधिष्ठिर[229] एवं तुलसी ने प्रतापभानु,[230] दशरथ[231] और राम[232] को चक्रवर्ती राजा कहा है। तुलसी के राम के राज्य का विस्तार इस रूप में उल्लिखित है- 'भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला।'[233] आलोच्य कवियों के अनुसार इन सभी राजाओं के राज्य में प्रजा को किसी प्रकार को कोई कष्ट नहीं है-

हरिश्चन्द्र : नाहिके लोकर शोक जाहार राज्यत।
नाहि मारि मरक दुर्भिक्ष दुख यत''
नाहिके सचल चौर घोर बिघ्नि भय

अकालतो करो नाहि मरणको भय।।

X X X

महासुखे प्रजा येन बैकुण्ठत बसे।[234]

प्रतापभानु : भूप प्रतापभानु बल पाई। कामधेनु भै भूमि सुहाई।।
सब दुख बरजित प्रजा सुखारी। धरमशील सुंदर नर नारी।।[23]

राम : राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका।
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई।।[236]

शंकरदेव और तुलसी दोनों की दृष्टियों से आदर्श राज्य में वर्णाश्रम धर्म का पालन होना चाहिए। इसीलिए शंकरदेव के भीष्मक[237] और तुलसी ने राम राज्य मे वर्णाश्रम धर्म के पालन[238] का उल्लेख किया है। शंकरदेव और तुलसी दोनो भक्त कवि और धार्मिक बुद्धि सम्पन्न विचारक थे। अतः वर्णाश्रम धर्म के पालन पर उनकी दृष्टि जाना स्वाभाविक ही था। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इसका सामान्य अर्थ इतना ही किया जाना चाहिए कि राष्ट्र के प्रत्येक घटक को अपने कार्य और दायित्व का योग्य निर्वाह करना ही शंकरदेव और तुलसी की दृष्टि में वर्णाश्रम धर्म का पालन है।

शंकरदेव और तुलसी की दृष्टियों मे आदर्श राज्य का एक मानदण्ड उसमे किये जानेवाले यज्ञ भी हैं। इस दृष्टि से शंकरदेव के राजा बलि[239] और परीक्षित[240] एव तुलसी के प्रतापभानु[241] और राम[242] 'अश्वमेध' करते हैं। शकरदेव के हरिश्चन्द्र ने 'राजसूय'[243] और बलि ने 'विश्वजित यज्ञ'[244] किया है। इन यज्ञों के अवसर पर दीन-दुखियों एवं ब्राह्मणो आदि को प्रचुर दान दिये जाते थे।

ऐसा अनुमान होता है कि यज्ञ विषयक मान्यताएँ शकरदेव और तुलसी दोनो ने परम्परा से ही स्वीकार की है। आज के सन्दर्भ में इन पौराणिक यज्ञो का महत्त्व भले ही न रह गया हो, किन्तु बदलते परिप्रेक्ष्य में इन के रूप बदलते हुए माने जा सकते हैं। शासन के द्वारा राज्य और प्रजावर्ग की समृद्धि के लिए किये जाने वाले कार्य और उपाय ही आज की दृष्टि में यज्ञ स्वीकार किये जायेंगे।

यज्ञों की तरह ही गोष्ठियॉ और सम्मेलनों के आयोजन को भी शकरदेव और तुलसी ने आदर्श राज्य के लिए आवश्यक स्वीकार किया है। शकरदेव ने कुरुक्षेत्र मे सूर्यग्रहण के अवसर पर श्रीकृष्ण के द्वारा न केवल महायज्ञ[245] का आयोजन करवाया है, बल्कि उसे एक राजनैतिक सम्मेलन का रूप देने का भी प्रयत्न किया है। उस अवसर पर पृथ्वी के अनेक राजे उपस्थित है। ऐसा लगता है मानों उनमे व्याप्त जीत-हार विषयक पारस्परिक कटुता को मिटाकर सबमें प्रेम-भाव पनपाना ही सम्मेलन का उद्देश्य है

कुरुक्षेत्र जुरि येन जगत आधार। पातिला प्रचुर प्रभु प्रेमर पसार।।

जगतर राजा प्रजा बेहाइलेक हाट। कराइला ईश्वर कृष्णे प्रेममय नाट।[24]

इसी में सृष्टि-तत्त्व एवं भक्ति-तत्त्व पर भी बातें हुई हैं, किन्तु यह मानना असंगत न होगा कि श्रीकृष्ण द्वारा आयोजित यह सम्मेलन विभिन्न राजाओं में पारस्परिक मैत्री भाव बढ़ाने इत्यादि के लिए ही हुए हैं। कुरुक्षेत्र में आयोजित इस सम्मेलन का प्रक्षेप आजकल होने वाले विभिन्न अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों मे की जा सकती है। तुलसी साहित्य में छोटी-छोटी अनेक गोष्ठियों के उल्लेख हुए हैं जिनमें राजनीति विषयक चर्चाएँ ही मुख्य विचारणीय विषय रही है। इस दृष्टि से राम-भरत का चित्रकूट मिलन[247] और चित्रकूट की आयोजित सभा[248] एवम् 'उत्तरकाण्ड' (मानस) मे वर्णित वाटिका के मध्य मे राम का अपने भाइयों के साथ वार्तालाप[249] उदाहृत किये जा सकते हैं। चित्रकूट की सभा का रूप बहुत कुछ सम्मेलन जैसा ही है।

तुलसी ने राजतंत्र को देखा और भोगा था। स्वयम् उन्होंने जिस राम-राज्य को आदर्श माना है वह भी राज्यतंत्र ही है। लेकिन ऐसा लगता है कि वह राजतंत्र वर्तमानकालीन प्रजातंत्रीय प्रणाली का बहुत कुछ स्वीकृत कर चलनेवाला है। इसके लिए स्वयम् राजा की घोषणा है- 'जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहिं बरजहु भय बिसराई।'[250] चित्रकूट प्रसंग में तुलसी ने जिस सभा और समिति का वर्णन उपस्थित किया है एवम् जिसमें विचारणीय विषय पर प्रत्येक सभासद ने अपना वक्तव्य रखा है, उससे भी इसी की पुष्टि होती है।[251]

शंकरदेव और तुलसी दोनों के द्वारा स्वीकृत आदर्श राज्य मे प्रेम और मैत्री पर अधिक बल दिया गया है। कटुता किसी प्रकार से उत्पन्न न हो, इस मत के दोनों पक्षधर हैं। इस दृष्टि से शंकरदेव की ये पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं-

(अ) प्रीति करि साधा कर्म प्रीति वश्य हुये राज, कन्दलत परे नाहि मन्द।[252]

(आ) मित्र भावे येनमते शत्रु करि क्षय।

कन्दले नोवारि ताक जानिबा निश्चय।।[253]

तुलसी की स्पष्ट मान्यता है कि राज्य के मंत्री और राजपुरोहितों का चूँकि राज्य की शासन-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण हाथ होता है, इसलिए उन्हें भय, स्वार्थ के वशीभूत होकर केवल राजा की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाना उत्तम नहीं है। वैसी स्थिति मे राज्य और राजधर्म का विनाश हो जाता है-

सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।

राज धरम तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास।[254]

स्पष्ट है कि तुलसी आदर्श राज्य के लिए न केवल प्रेम पूर्ण नीति को

महत्त्वपूर्ण मानते है बल्कि राजा के द्वारा स्वार्थवश अपनायी जानेवाली कतिपय प्रजाविरोधी नीतियों के प्रति सजग कर उसे सुमार्ग पर लाने का दायित्व मंत्री और राजपुरोहित को सौंपते हैं।

उपरि विवरण से स्पष्ट है कि आदर्श राज्य के लिए शंकरदेव और तुलसी ने प्राय: एक-सी ही मान्यताएँ व्यक्त की हैं। उनमें विरोध-वैषम्य नहीं के बराबर है। यद्यपि उनकी मान्यताएँ मूलत. पारम्परीण और पुराण पर आधारित हैं किन्तु उनकी प्रासगिकता बहुत हद तक आज भी बनी हुई है। यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासगिक न होगा कि राम-राज्य के रूप में जिस आदर्श राज्य का वर्णन तुलसी ने किया है, महात्मा गांधी और लोहिया ने उन्हीं आदर्शों पर राम-राज्य की कल्पना की है। यह आदर्श राज्य प्रणाली राजा-प्रजा के मधुर सम्बन्ध, प्रजा के सब प्रकार के सुख और समृद्धि, राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के अधिकार और कर्तव्य के समुचित पालन, प्रेम और मैत्री स्थापन इत्यादि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुत. प्रणाली कोई भी हो, शासन व्यवस्था किसी के हाथ में हो, किन्तु यदि ये सारी बातें सामान्य नागरिक को प्राप्त होती हैं तो यही आदर्श राज्य है। इसे कल्याणकारी राज्य कहा जायेगा और शकरदेव एवं तुलसी द्वारा मान्य राज्य विषयक आदर्श कल्याणकारी राज्य के ही हैं।

निष्कर्ष

समासत: यह कहा जायेगा कि भक्त कवि होने के बावजूद शंकरदेव और तुलसीदास तत्कालीन राजनीति से अछूते नहीं थे। शंकरदेव ने तो राजकीय परिवार मे जन्म ही लिया था, कुछ समय तक शासन भी चलाया था। अत: उन्हे राजनीति का प्रत्यक्ष अनुभव था। पुन: उत्तरभारत के तत्कालीन मुगल शासन को भी उन्हें सुदीर्घ भ्रमण काल में देखने-समझने का अवसर मिला था। तुलसीदास तत्कालीन मुगल शासन के भोक्ता थे। उसकी खूबियों और खामियों को उन्होने बड़ी गभीरता से अनुभव किया था।

शंकरदेव और तुलसीदास दोनों की दृष्टि में तत्कालीन राजनैतिक स्थिति प्रजा के लिए भयावह और मारक थी। तत्कालीन शासक और उनकी शासन-नीति को दोनो ने अपनी रचनाओं मे रूपक के माध्यम से प्रस्तुत किया है। शंकरदेव के कंस और तुलसी के रावण मे तत्कालीन शासकों का प्रक्षेपण दिखायी पडता है। उनके राज्य और राजनैतिक विश्वासों को दोनो ने अमानवीय और राक्षसी कहा है। उनके द्वारा किये जानेवाले सभी प्रजा-पीडक कार्य निन्दनीय घोषित हुए है इस सदर्भ म तुलसी की दृष्टि अधिक पैनी है

शंकरदेव और तुलसी दोनों ने उक्त कलयुगी शासन-नीति को समाप्त कर प्रजा की सब प्रकारेण सुख-समृद्धि के लिए योग्य शासक और प्रजारंजक राजनीति विषयक कतिपय समान आदर्श प्रस्तुत किये हैं। दोनो की दृष्टि में योग्य राजा साक्षात् ईश्वर अथवा ईश्वर का प्रतिनिधि- परम वैष्णव ही हो सकता है। इस दृष्टि से शंकरदेव ने हरिश्चन्द्र और तुलसी ने राम को आदर्श रूप में अंकित किया है। शंकरदेव द्वारा अंकित हरिश्चन्द्र-राज्य तथा तुलसी द्वारा वर्णित राम-राज्य में मूल्यगत अन्तर नहीं है। दोनों को जनकल्याणकारी राज्य के रूप में राम-राज्य ही काम्य है।

संदर्भ :-

1. वृहत् हिंदी कोश, पृ 952
2. महाभारत (शांति पर्व) 15/2
3. वही 56/2
4. वही 56/3
5. वही 56/10
6. वही 56/12, 59/127
   'रंजिताश्च प्रजा, सर्वास्तेन राजेति शब्दते' 'राजा रंजनकाम्यया'
7. वही 57/42 'ऋते रक्षां सुविस्पष्टा रक्षा लोकस्य धारणम्'
8. वही 59/112
9. कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
   इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्।-महाभारत, शांतिपर्व 70/6
10. महाभारत (शांतिपर्व) 70/8
11. नि न.सि. 317, भाग 6/158, मानस 7/100/3
12. भाग 6/58, 1/1043, 1048, मानस 7/100/3
13. वही 12/13, दोहा 559
14. वही 10/523, कविता 7/177
15. वही 12/13, 35, दोहा 559
16. वि.प 134/3, दोहा 514
17. भाग 12/70, कविता 7/177
18. वही 12/15
19. वही 12/16
20. वही 12/18
21. दोहा 559
22. महाभारत (शांतिपर्व) 70/18

23. भाग 1_/9
24. वही 1221-24
25. वही 12/19, 27
26 वही 8/23
27. वि प 139/1
28. नि.न.सि. 319
29. भाग 12/28
30. नि न.सि 315, भाग 12/34
31. भाग 12/35
32. वही 12/24, 30
33 वही 12/35
34. कविता 7/179
35. वही 7/183
36 महाभारत (शांतिपर्व), अध्याय 68
37. वही 91/3
38 वही अध्याय 58
39. रु.ह. का 125, मानस 2/315/1
40. संधि, विग्रह, यान, आसन, ह्रास, द्वैधी भाव- महाभारत (शांति), अ 59
41 मानस 7/111/3, (तुलनीय मानस 3/20/4-5)
42 रु.ह का 125
43. अर्थशास्त्र 1/9
44 मानस 2/315/1
45. वही 2/42/3
46. ह उ 84
47. वही 88-89, राम. (उ) 12, 277, गी.व. 7/25
48 कीर्तन 1161; भाग 10/125
49. रु ह का 623
50. भाग 10/162
51. रु.ह का 460
52. कीर्तन 2030, 2079
53 भाग 10/162 (राजमंत्री सबको करिबो बश्य पाछे)
54. वही 10/262
55 वही 8/263
56. वही 8/821
57 वही 8 7
58 वही 8/263

5) वही 10 16?

60. मानस 1/300/3

61. वही 1/308/3

62. वही 5/37/1, 4/55/4

63. वही 5/39/1, 6/47/3

64. वही 4/4

65. वही 5/49/3

66. वही 1/153/1

67. भाग 2/4/1-3

68. वही 4/4/2

69 मानस 6/47/2

70 वही 5/49/3, 4/42/3, 6/38/1

71. वही 2/149/1

72. वही 4/5, 5/50/1

73 ह उ 19

74. कीर्तन 656, रु.ह का 230

75. भाग 8/752

76. मानस 2/2/1

77 वही 2/79/2

78. वही 2/169

79. वही 2/314/4

80. वही 2/168/4

81. ह उ 6

82 कीर्तन 1112

83. रु.ह. का 112-13

84. वही 11

85. वही 163

86. ह उ 302, भाग 10/100

87. रु.ह का 211

88. वही 203, भाग 10/1794

89. रु.ह. का 113-17, 681, कीर्तन 1338-39

90. भाग 10/104, 144

91 ह.उ 292, रु.ह का 530, भाग8/1091, 10/1475, 11/54

92. भाग 10/342

93. मानस 1/187/4

94 वही 1/211/3

95. वही 1/177 3 4
96. वही 7/26/1, 1/212/1
97. वही 2/112/1, 2/116/4
98. ह उ 12, 13
99. भाग 10/2131
100. वही 10/154
101. वही 10/1783
102. वही 12/127
103. वही 12/38
104. दोहा 209
105. वही 510
106. वही 208
107. मानस 6/37/5
108. दोहा 506
109. ह.उ 66, 75
110. भाग 1/1059-60
111. वही 10/144
112. वही 8/159
113. वही
114. वही 8/31
115. वही 8/31-36
116. वही 8/160-61
117. मानस 1/208/3
118. वही 1/209/3
119. वही 3/20 (क)
120. वही 6/102/3
121. भाग 10/496, 1140, राम (उ)722, मानस 4/38/2, कविता 7/122
122. मानस 5/58/3
123. भाग 1/1083
124. वही 10/610
125. मानस 4/18
126. भाग 1/1089-90
127. मानस 7/22
128. वही 7/21/4
129. रा प्र 6/6/1
130. वि प 46

' उकर व औ [नर्स न ल ै ५ ौ

131 गीता 7/24/2

132 भाग 10/577

133 वही 10/581

134 वही 10/338

135 वही 10/594

136 वही 10/607

137 वही 10/621

138 भाग 10/722

139 कीर्तन 173, भाग 10/731

140 वही 183

141 ह.उ 43

142 पा ह. ना.

143 कीर्तन 179

144 रु.ह.का 296, 300, 309

145 भाग 8/485

146 मानस 6/77/4-98, 6/99/6-120/3

147 भाग 1/1079

148 रु.ह का 175

149 मानस 6/38/1

150 वही 6/10/3

151 वही 6/10/2-4

152 वही 6/42/2

153 राम (उ.) 12

154 मानस 6/16/3

155 वही 6/32/1

156 वही 3/18/4

157 वही 5/52/2

158 रु ह 291, 328, 353, 359, 361; भाग 8/407, 45

159 मानस 3/18/9, 6/34/4, 6/72/1

160 भाग 8/388-90, 1087-88

161 मानस 6/86/6

162 रु.ह. का 189, ह.उ. 60, कीर्तन 2030, मानस 1/1

163 वही 439, ह.उ. 168, भाग 8/1089, मानस 6/86/6

164 वही 319, मानस 6/78/1-2

165 वही 320

166 भाग 8/1095 मानस 1/18 /3 6/78/6

167. मानस 6/54/2
168. वही 6/85/2
169. भाग 8/1089, मानस 6/78/5
170 मानस 5/34, 34/1
171. रु.ह 327, 378
172. मानस 6/38/1-5
173. वही 6/47/1, 6/71/1, 6/97/8
174. वही 6/97/1
175. वही 6/53/4. 6/54
176. वही 3/18/5
177. रु. ह. का 447, 650
178 भाग 8/73
179. मानस 3/18/7
180. भाग 8/54
181. वही 8/55
182. यथा- राम-रावण युद्ध
183. भाग 6/159, मानस 2/178/1
184. महाभारत (शांतिपर्व) 70/30
(लोकस्य सीमंतकरी मर्यादा लोकभवानी। सम्यङनीता दण्डनीतिर्यथा माता यथा पिता।)
185. भाग 6/159, 8/818
186. दोहा 512
187. भाग 10/201/7
188. दोहा 507
189. भाग 8/819
190 मानस 6/37/5, दोहा 517
191. वही 2/151/2
192. वही 2/314/4
193. ह उ 66
194. भाग 12/86
195. ह.उ 8
196. भाग 8/818
197. राम (उ) 710
198 रु.ह का 13
)9 भाग 1/)76
)0 वही)40

201. मानस 1/152/1
202. वही 1/154
203. वही 1/187/4
204. वही 1/217/4
205 वही 2/290
206 रसना मंत्री, दसन जन, तोष पोष निज काज।
    प्रभु-कर सेन पदादिका, बालक राज-समाज।। दोहा 52
207. ह उ 111, 119, 164 66
208 वही 110
209 वही 490
210. वही 493
211. वही 500-5
212. वही 512
213. राम (उ) 710
214. वही 737
215 भाग 10/143-45
216 ह इ का 672
217. वही 675
218 वही 678
219. मानस 1/193/1-3, 1/194
220. वही 1/295/4, 1/296/2
221. वही 2/38/4, 2/84/2
222. वही 2/83/3
223. वही 2/319/4
224 वही 7/3/1
225. वही 7/4/1
226 गीता 7/18, 7/21/16
227. मानस 3/9
228. ह उ 12-13
229. भाग 1/976
230. मानस 1/165
231. वही 1/295
232. वही 7/21/1
233. वही
234 ह उ 10
235 मानस 1/154 1

236. वही 7/19/4
237. रु.ह.का 204
238 मानस 7/20, रा.प्र 6/6/6, दोहा 182; गीता 7/1
239. भाग 8/8/7
240. वही 1/1039
241. मानस 1/153/3
242 वही 7/23/1
243. ह.उ. 21-31
244. भाग 8/803
245. वही 10/390 (कुरुक्षेत्र)
246. वही 10/34 (वही)
247 मानस 2/240
248. वही 2/253-315
249. वही 7/31/1
250. वही 7/42/3
251. वही 2/293/3
252. भाग 8/53
253. वही 8/55
254. दोहा 524

* * *

सप्तम अध्याय

काव्य विषयक विचारधारा

भारतीय काव्यशास्त्रियों का मत है कि कवियो को काव्यशास्त्र का समुचित ज्ञान होना चाहिए। भामह ने तो मात्र कवि को ही काव्यशास्त्र का अधिकारी घोषित किया है- 'अज्ञस्येव प्रगल्भत्वमकवे. शास्त्रवेदनम्'[1] आचार्य वामन ने कवि के क्रमश विवेकी और अविवेकी (अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी) भेद करते हुए 'विवेकी' को काव्यशास्त्र का अधिकारी घोषित किया है- 'पूर्वे शिष्या: विवेकित्वात्। नेतरे तद्विपर्ययात्।'[2] एजरा पाउण्ड के अनुसार कवि द्वारा निरूपित रचना-सिद्धान्त को अन्यव्यक्ति (समीक्षक ?) की मान्यता से अधिक महत्त्व मिलना चाहिए।[3] बारफील्ड ने श्रेष्ठ कवित्व और श्रेष्ठ समीक्षा को अन्योन्याश्रयी घोषित किया है।[4]

शंकरदेव और तुलसीदास भक्त कवि हैं, काव्य-दर्शन के निर्माता अथवा काव्याशास्त्राचार्य नहीं। उन्होंने काव्य नहीं, भक्ति-काव्य की रचना की है। वे भक्त कवि थे, भक्ति- काव्यशास्त्री नहीं। उनकी रचनाओ में भक्ति-दर्शन तो कथित-विवेचित हुआ है, पर काव्य-दर्शन का व्याख्यान उपलब्ध नहीं होता है। अत. उनके भक्ति-दर्शन को ही एक सीमा तक भक्ति-काव्यादर्श के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

शंकरदेव भक्त-कवि के साथ ही भक्ति-प्रतिपादक आचार्य भी थे। उन्होंने अपनी मान्यताओं के निरूपण के लिए **'भक्ति-प्रदीप'** नामक एक मौलिक ग्रंथ की रचना और **'भक्ति-रत्नाकर'** नामक ग्रन्थ का सकलन और सम्पादन किया था। इनके अतिरिक्त उनके विविध ग्रंथों में भी भक्ति विषयक विचार जहाँ-तहाँ उल्लिखित है। अत: यह मानना पड़ेगा कि अपनी कविता को विवेचित-व्याख्यायित किये जाने की संभावना भी उन्होंने उसी के अन्तर्गत सीमित कर दी है। अस्तु, यह स्वीकार करना संगत है कि लक्षण-निर्धारण एवं उदाहरणों के द्वारा प्रमाणीकरण अथवा क्रमबद्ध शास्त्रीय विवेचन के न होने के बावजूद शंकरदेव की रचनाओं मे कतिपय ऐसे सूत्र बिखरे हुए होने चाहिए जिनके एकत्रीकरण से उनके काव्यादर्शों की झलक प्राप्त की जा सकती है।

तुलसीदास ने काव्यशास्त्र अथवा भक्तिशास्त्र विषयक कोई पुस्तक नहीं लिखी है तब भी उनकी मे यत्र तत्र काव्य सम्बन्धी कतिपय मान्यताए व्यक्त

हुई है, पर उतने से ही उन्हें [illegible] मानना अनुचित होगा क्योंकि काव्य-शास्त्र का निरूपण करना उनका अभीष्ट नहीं था। भक्ति-काल की रचना के क्रम में तत्सम्बन्धी कतिपय मान्यताएँ प्रासगिक रूप में केवल निर्दिष्ट हो गयी है। 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड में तुलसीदास की काव्य-सम्बन्धी विचारधारा अधिक स्फुट है। प्रतीत होता है कि काव्यादर्श सम्बन्धी विविध विचारों से अवगत होने पर भी गोस्वामीजी ने 'रामचरितमानस' को भक्ति-काव्य के रूप में ही प्रस्तुत किया है।

शकरदेव एवं तुलसीदास की रचनाओं में बिखरे हुए कतिपय सूत्रों को सयोजित करने से उनकी काव्य-विषयक जो मान्यताएँ स्पष्ट होती हैं उन्हे काव्य-लक्षणा, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-वर्ण्य, काव्यांग तथा काव्य-रूप मे विवेचित-व्याख्यायित किया जा सकता है।

काव्य-लक्षण

कविता या काव्य रूप के लिए शकरदेव ने अनेक शब्दों के प्रयोग किये हैं यथा-कविता[5], गीत[6], पयार[7], पदचय[8], पदबंध[9], कथा-छबि[10], झुमुरि[11], झूना[12], हरि-कीर्तन[13] कृष्ण-कथा[14] इत्यादि। तुलसी ने इसके लिए 'कवित्त'[15] या 'कवित'[16] शब्द का प्रयोग किया है।

कविता के शास्त्रीय तत्त्वों से सम्बन्धित बातें शंकरदेव में बहुत कम मिलती है, किन्तु उनमें आनन्दवादियों के दृष्टिकोण का किंचित् सन्निवेश प्रतीत होता है। 'व्यासो देन्त कथात रजन'[17] कहकर उन्होंने काव्य में 'मधु और दुग्ध'[18] (मधु समे दुग्ध) का एकत्र स्वाद उपलब्ध होने के पक्ष को महत्त्व दिया है। अत. उनके अनुसार रम्यता एवं मंगल की भावना काव्य के अनिवार्य तत्त्व ठहरते हैं।

तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के प्रारंभिक श्लोक में ही काव्य के लिए आवश्यक तत्त्वों का निर्देश कर दिया है। इनके अनुसार कविता में अक्षरो अर्थसमूहों, रसों, छन्दों और मंगल की भावना[19] का सन्निवेश तो चाहिए ही, निखार लाने के लिए अलंकार और भावों[20] का एकत्र आकलन भी होना चाहिए। काव्य मे श्रेष्ठ-भाव या विचार का होना एक मुख्य तत्व के रूप में स्वीकार करते हुए तुलसी कहते हैं कि बुद्धिमान लोगों के लिए हृदय समुद्र, बुद्धि सीप और सरस्वती स्वाति नक्षत्र स्वरूप हैं, जिसमें श्रेष्ठ विचाररूपी जल बरषने पर ही 'मुक्तामणि' के समान कविता बन पड़ती है।[21] इस कथन में कवि पर शिक्षावादियों के दृष्टिकोण का प्रभाव दिखाई पडता है, जिसमें लोकहित की भावना अधिक प्रकट होती है। 'कीरति भनिति भूति भलि सोई सुरसरि सम सब कह हित होई'[22] की उक्ति भी 'लोकहित

को ही महत्त्व देती है।

भक्त कवि होने के कारण शंकरदेव और तुलसी ने काव्य के मुख्य प्रतिपाद्य के रूप में आराध्यदेव के गुण-वर्णन को ही स्वीकार किया है। तभी सुकवि द्वारा रचित अच्छी कविता भी राम नाम के बिना निरर्थक प्रतीत होना उनके लिए स्वाभाविक है। दूसरी ओर कुकवि की रचना या दोषयुक्त कविता होने पर भी इष्टदेव के गुण-गान के प्रभाव से वह सार्थक बन जाती है।[23] इसमें उनके भक्त-हृदय की भावुकता अथवा भक्त-मानसिकता ही झलकती है।

काव्य की सार्थकता उसकी सरलता एवं मंगलमयी भावना में निहित है। तुलसी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि कविता वही उत्तम होती है जिससे वैर भी अपनी सुधि भूल जाती है।[24] वस्तुतः दोनों भक्त कवियों के अनुसार काव्य या कविता मे कथ्य का आकर्षक ढंग से प्रतिपादित एवं उच्चभाव अथवा विचार (इष्टदेव से सम्बन्धित) से युक्त होना आवश्यक है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि शंकरदेव की अपेक्षा तुलसी की काव्य-लक्षण विषयक दृष्टि अधिक स्पष्ट है। 'रामचरितमानस' की आरंभिक पंक्ति को उनके द्वारा निर्धारित काव्य-लक्षण स्वीकार किया जा सकता है। उनके अनुसार काव्य वह शब्दार्थ है जो रसात्मक, छन्दोबन्द और मंगलकारी होता है। इस प्रकार तुलसी निरूपित काव्य-लक्षण में पांच तत्त्व निहित हैं- वर्ण, अर्थ, रस, छन्द और लोकमंगल (वर्णानामर्थसंघाना रसानां छन्दसामपि। मंगलानां च ।) शंकरदेव ने यद्यपि इनका स्पष्ट कथन नहीं किया है, पर उनकी कविता के अनुशीलन से स्पष्ट है कि उन्हें भी काव्य में ये तत्त्व मान्य है।

(क) काव्य का कर्त्ता : कवि : काव्य के कर्त्ता को कवि कहा जाता है। शंकरदेव ने एकाध स्थल पर अपने को 'कवि'[25] या 'रचियता'[26] तो माना है पर अधिकांश स्थलों पर 'कृष्ण किंकर'[27], 'दास'[28], 'सेवक'[29] 'वाचक'[30] एवं 'कृष्ण का कीर्तन करनेवाला'[31] ही घोषित किया है। तुलसी ने अपने को प्रायः 'कवि'[32] ही कहा है, यद्यपि वे अपने को 'सुकवि'[33] नहीं मानते हैं। पुनः शंकरदेव ने कवि के वर्गीकरण पर अपना विचार व्यक्त नहीं किया है, पर तुलसी ने कवि की दो कोटियां मानी है- सुकवि और कुकवि।[34]

कवि के लक्षण के सम्बन्ध मे शंकरदेव और तुलसीदास ने अधिक न कह कर केवल संकेत कर दिया है कि उनमें अपने इष्टदेव के प्रति ऐकांतिक भक्ति का होना जरुरी है इसलिए 'कृष्ण किंकर' शंकरदेव 'अल्पमति'[35] 'शिशुमति'[36] या 'महामूढ'[37] होकर भी केवल 'ईश्वर कृष्णक मइ भैलो परिचय'[38] के बल पर विभिन्न काव्य रचना

मे प्रवृत्त हो सके हैं। 'कबित बिबेक एक नहिं मोरे'[39] के प्रति हमेशा सचेत बने रहनेवाले तुलसी को भी 'राम प्रताप'[40] का अमित बल प्राप्त है।

अतः, स्पष्ट है कि दोनों भक्त कवियों के अनुसार इष्टदेव के प्रति भक्ति और उनके दो गुण-गान करनेवाला व्यक्ति कवि (भक्त कवि) कहा जाता है।

(ख) काव्य का ग्रहीता : शंकरदेव और तुलसी ने भक्ति-काव्यों की रचनाएँ कीं। इसलिए इन काव्यों के पाठक और श्रोता को काव्य का ग्रहीता माना जायेगा। काव्य के अतिरिक्त शंकरदेव ने 'अंकिया-भाओना' की रचना कर उसे प्रदर्शित करवाया था और तुलसी ने 'रामलीला' का आयोजन। फलत: दर्शक भी ग्रहीता की कोटि में ही आयेगे। अस्तु, व्यापक अर्थ में श्रव्य-काव्य तथा दृश्य-काव्य के पाठक, श्रोता और दर्शक ही शंकर और तुलसी के अनुसार काव्य के ग्रहीता है।

शंकरदेव और तुलसीदास दोनो ने काव्य के ग्रहीता (अथवा अधिकारी, सहृदय अथवा प्रमाता) की कोटियाँ निर्धारित करने की कोशिश नहीं की है। भक्ति की महिमा आदि का व्याख्यान करते समय उन्होंने भक्ति के अधिकारियो के सकेत अवश्य किये हैं। उनके द्वारा मान्य भक्ति के अधिकारी का आयाम व्यापक है। अस्तु, ऐसा स्वीकार किया जायेगा कि भक्ति के अधिकारी ही काव्य के भी अधिकारी है। काव्य के अधिकारी के लिए परम प्रेम तथा स्थिर चित्त से काव्य का श्रवण मनन करना आवश्यक होता है। उनकी स्पष्ट घोषणा है-

1. कृष्णर कीर्त्तने जाति अजाति नबाछे।[41]
2. कृष्णर कथाये आति नचावे आचार जाति,
   महापातकीरो गति करै।[42]

ध्यातव्य है कि शंकरदेव के अनुसार काव्य का पाठक ही अन्तत: गायक, कीर्तनकार अथवा कथावाचक (वकता) के रूप में कवि भी बन जाता है।

तुलसी ने मन, वचन एवं कर्म के द्वारा रामभक्त[43] होना ग्रहीता का लक्षण बताते हुए इसकी व्याप्ति इस प्रकार दिखायी है- 'श्रोता त्रिबिध समाज पुर ग्राम नगर दुहुँ कूल।[44] भक्त यानी ग्रहीता (श्रोता एवं वक्ता) की प्रशंसा करते हुए तुलसी ने उन्हें 'ज्ञानी' की आख्या भी दी है।[45] तुलसी ने वैसे बुद्धिमान (सुजान) को काव्य का अधिकारी माना है जो प्रेम भाव स काव्य श्रवण मनन करता है[46] उनकी मान्यता है

उन्हें भक्ति काव्य का अधिकारी नहीं माना है।[48] इससे स्पष्ट होता है कि भक्तिहीन या विषयी होना भक्ति काव्य के अधिकारी होने से वंचित होने का द्योतक है। परन्तु जिनके हृदय में राम-प्रेम है, तुलसी उन्हें काव्य का सतत् अधिकारी स्वीकार करते हैं।[49] शंकरदेव की दृष्टि मे भक्ति के अधिकारी समाज के सब लोग है। यथा-

शंकरदेव : 1. शुना समज्यार लोक कलित सद्गति होक
डाक छारि बोला राम राम।।[50]
2. शुना सर्वजने मन करा उपशम।
आन काम एरि बेढि बोला राम राम।।[51]
3. शुना बुधलोक[52]
4 शुनियोक सभासद महाभागवत पद
कृष्ण कथा परम अमृत।
भूकुति मुकुति यत सबे होवे उपगत
इह परलोक महा हित।।[53]

तुलसीदास को भी यह मान्य है, पर उन्होंने 'सुगम' पर बल दिया है-

तुलसीदास : 1. रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोग।
राम भगति दृढ़ पावहि बिनु बिराग जप जोग।।[54]
2. सुनहुँ सकल सज्जन सुखु मानी।[55]
3. सादर सुनहु सुजन मन लाई।[56]

शंकरदेव और तुलसी भक्ति काव्य के ग्रहीता के लिए तर्क, ज्ञान, कर्म अथवा वेद-शास्त्रादि का अध्ययन आवश्यक नहीं मानते हैं। उसके लिए कथ्य (आराध्यदेव) के प्रति श्रद्धा और विश्वास का होना ही पर्याप्त है-

शंकरदेव : 1. आर वेदागम विस्तर शास्त्रत, नाहि किछु प्रयोजन।[57]
2 पंडिते पढ़े शास्त्र मात्र, सार भकते लिये।[58]

तुलसीदास : आगम निगम पुरान अनेका। पढे सुने कर फल प्रभु एका।
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर।।[59]

काव्य-सृजन के क्षणो में मानों शंकरदेव की दृष्टि के सामने ही उनके काव्य के अधिकारी स्थित होते हैं। 'आन काम एरि समज्जाये बेढि',[60] 'शुना सबे सभासदे'[61] 'ताहे सावधाने देखह शुनह'[62] इत्यादि उद्धरणों से यही सजगता प्रतीत होती है। तुलसी ने यद्यपि शंकरदेव की तरह ग्रहीता को बार-बार सम्बोधन करके सजग नहीं किया है फिर भी वे ग्रहीता के प्रति सतत सचेष्ट थे। यहां ऐबर्किन्स के इस कथन का भी पोषण होता हुआ दीखता है कि रचना के समय कवि मानस मे

अनुमानित प्रमाता की स्थिति भी अवश्य रहती है- "In all literary activity these are atleast two factors, apart from the individuality of the writer, which have to be taken into account They are the medium of words and that human nature to which appeal is made"[63]

ग्रहीता के अन्य एक पहलू पर भी दोनो भक्त-कवियों ने विचार किया है। जो ग्रहीता भक्त-हृदय के नहीं होते हैं, उन्हें भक्ति-काव्य रुचिकर न लगना स्वाभाविक ही है। शंकरदेव ने कहा है जिनके हृदय में महापाप हैं, उन्हें भक्ति-काव्य रूचिकर नहीं लग सकते।[64] ऐसे लोगों के कानों में भक्ति-कथा सूई की तरह सदा खटकती है।[65] गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामभक्तों तक ही ग्रहीता की सीमा मानी है- 'हरि हर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुवर की।।'[66]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि शंकरदेव और तुलसीदास दोनों के अनुसार काव्य के ग्रहीता अथवा अधिकारी का तात्पर्य भक्त अथवा भक्ति काव्य के श्रोता से है। काव्य का अधिकारी होने के लिए मात्र इतना ही आवश्यक है कि वह भक्त-हृदय हो अथवा भक्ति-काव्य के श्रवण, पठन अथवा गायन में रुचि रखता हो।

(ग) **काव्य की आत्मा** : काव्य की आत्मा से तात्पर्य है काव्य का वह सारभूत तत्त्व जिसके अभाव में काव्य को काव्य नहीं कहा जाता। शंकरदेव के 'कथात रजन' और 'मधु समे दुग्ध' और तुलसी के 'रसानां' के संकेत से इस आशय की पुष्टि होती है कि दोनो रस को काव्य की आत्मा मानते है। इसप्रकार दोनो रसवादी ठहरते है।

भक्त कवि होने के कारण शंकरदेव और तुलसी दोनो का साध्य है भक्ति का प्रचार और साधन है भक्ति-काव्य का गायन। तुलसी की मान्यता है-

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं।।[67]

यहाँ 'रामचरित' से मात्र 'राम' के चरित्र का अर्थ न होकर उसको लेकर कृष्ण आदि यानी व्यापक फलक अर्थात् भगवान् के 'चरित्र' का अर्थ व्यजित करना ही तुलसी को अभीष्ट है। शंकरदेव को भी यही काम्य है। तात्पर्य यह है कि शंकरदेव और तुलसी दोनों की दृष्टि में काव्य की आत्मा है- भक्ति रस।

(ग) **तुलसी का वैशिष्ट्य** : काव्य के तीन पक्ष होते हैं- कर्त्ता, कृति और ग्रहीता। इन्हें ही क्रमश: कवि, कविता और कविता के पाठक अथवा भावक कहा जायेगा। शंकरदेव और तुलसी की कृतियों के अवगाहन-अनुशीलन से स्पष्ट है कि इन तीनों विषयों पर शंकरदेव ने अपेक्षया कम विचार किया है किन्तु तुलसीदास ने इन पर अधिक ध्यान दिया है इस मे उनकी सम्यक दृष्टि का उल्लेख

'रामचरित मानस' में 'मुक्तमाल' के रूपक में हुआ है। यथा-

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।।
जौ बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू।।
जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बर ताग।।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग।।[68]

उपरि उद्धरण की प्रथम दोनो पंक्तियों में कवि के सृजनात्मक पक्ष, दोहे की प्रथम पंक्ति में कृति-पक्ष और अंतिम पंक्ति में भावक अथवा सहृदय-पक्ष का विचार हुआ है। इन पंक्तियों में निहित तीनो पक्षों पर डॉ. श्रीधर सिंह ने अपने शोध-प्रबंध 'तुलसीदास की कारयित्री प्रतिभा का अध्ययन' में विस्तारपूर्वक विचार किया है।[69] रूपक की व्याख्या से स्पष्ट होता है कि जैसे मोती की उत्पत्ति के लिए चार पदार्थों- सिंधु (जल), सीपी, स्वाति नक्षत्र और स्वाति बून्दें की आवश्यकता होती है वैसे ही कविता की उत्पत्ति के लिए क्रमशः हृदय, मति, काव्यदेवी शारदा और शारदा की कृपा से उत्पन्न श्रेष्ठ विचार (Ideas) भी आवश्यक हैं। इनमें प्रथम दोनों 'हृदय' और 'मति' आधार उपादान हैं और अंतिम दोनों 'शारदा' और 'विचार' कारक उपादान। यहाँ 'शारदा' का तात्पर्य अन्त:प्रेरणा से लिया जायेगा। कृति यानी कविता पक्ष पर तुलसी का मत है- 'रामचरित रूपी उत्तम तागे में मोतियों को पिरोना।' यानी कविता का आधार उपादान है- राम (आराध्यदेव) का चरित्र और कारक उपादान है उसे कौशलपूर्वक कविता के रूप में ढालना। जैसे मोती के माले का सौन्दर्य मनकों के गूँथे जाने के कौशल में निहित होता है, वैसे ही काव्य-वस्तु को उत्तम कौशल से कविता का रूप देने में कृति की महत्ता निहित होती है। अन्त में तुलसी ने कविता के पाठक पर विचार किया है। जैसे मोती के माल्य की सार्थकता साधनों द्वारा गले में पहने जाने में निहित होती है, वैसे ही कविता भी तभी सार्थक होती है जब वह पाठकों द्वारा सहर्ष स्वीकृति प्राप्त करती है। इस प्रकार उपरि 'मुक्तामाल' के रूपक के माध्यम से तुलसी ने कवि, कृति और पाठक के पारम्परिक सम्बन्ध और कविता की रचना-प्रक्रिया पर एकत्र रूप में ही योग्य विचार कर लिया है। शंकरदेव में कवि, कृति और पाठक के पारस्परिक सम्बन्ध पर इस रूप में व्यवस्थित तथा एकत्र विचार का उल्लेख नहीं मिलता है

काव्य प्रयोजन

ने इसमें पुरुषार्थ चतुष्टय को भी सम्मिलित माना है। शंकरदेव और तुलसीदास ने अपनी कविता के प्रयोजन के सम्बन्ध में यत्र-तत्र कुछ बातें स्वीकार की हैं जो मोटे तौर पर इन्हीं प्रयोजनों के अन्तर्गत आ जाती हैं।

भक्त कवि शंकरदेव और तुलसी का एकमात्र काम्य है- इष्टदेव के गुणों का गायन। इसलिए उनके काव्यो का मूल प्रयोजन स्वान्त. सुखाय ही ठहरता है-

1. शंकरे रचिला गीत आपोनार चिन्ता हित, शुना समज्यार यत जन।[70]

2. स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबन्ध मतिमंजुल मातनोति।[71]

शंकरदेव की 'अपोनार चिन्ता हित' और तुलसी का 'स्वान्तः सुखाय' ही उनके काव्यों के मूल प्रयोजन माने जा सकते हैं। दोनों भक्त कवियों ने अर्थ, काम और यश की एषणाओ को नश्वर और मोह का मूल माना है-

1. अथिर धन जन जीवन यौवन, अथिर एहु संसार।[72]

2. सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी।।[73]

इस आधार पर ऐसा माना जा सकता है कि अर्थ, यश इत्यादि मानवीय कमजोरियाँ उनकी दृष्टि से काव्य-प्रयोजन नहीं हैं किन्तु दोनों की रचनाओ मे कुछ ऐसी पंक्तियाँ मिल जाती हैं जिनसे यश की अभिलाषा ध्वनित होती है, यथा-

शंकरदेव :

1. हरिपद प्रसादत सिद्ध हौक अभिमत, पद हौक अशेष प्रचार।[74]

2 छावालर वाणी हेन अनुमानि, मने हुइबा परितोष।।[75]

3. करो करजोरे बुद्धजन अभिनन्दा। नकरिबा पदत दूषण देखि निन्दा।।[7·]

4. आमार कविता जानि निन्दा नुबुलिबा वाणी, नकरिबा आत उपहास।[7·]

तुलसीदास :

1. भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।।[78]

2. जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं।।[79]

3 सपनेहुँ साचेहुँ मोहि पर जौं हर गौरी पसाउ।
तौं फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ।।[80]

4. कबि कोबिद रघुबर चरित मानस मंजु मराल।।
बालबिनय सुनि सुरुचि लखि मो पर होहु कृपाल।।[81]

ये उद्धरण ऐसा सोचने को वाध्य करते हैं कि शंकरदेव और तुलसी दोनों को 'काव्य यश से प्रयोजन के रूप मे मान्य अवश्य रहा है भले ही वह गौण प्रयोजन ही क्यो न रहे।

के प्रचार के लिए जिन काव्यों की रचनाएं कीं उनके मूल में लोक-मंगल[82] की भावना ही निहित है। अत लोक-मंगल भी उनके काव्यों का प्रयोजन सिद्ध होता है-

शंकरदेव :

1. सोहि बैकुण्ठक कृष्णक नाटक, उत्पाटक दुख मूल।[83]
2. शुना सामाजिक जन दिया मन, कृष्णर लीला चरित्र।
   आत परे हित नाहि पृथिवीत, जानिबा इटो कलित।।[84]

तुलसीदास :

1. कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।[85]
2. मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।[86]

शंकरदेव ने अपने सभी नाटकों की मंगल-भटिमाओं में लोक-मंगल[87] का प्रायः कथन किया है एवं नाटकों के आरंभ में भी सूत्रधार के कथन में प्रस्ताविक के रूप मे लोकमंगल को उन्होंने प्रमुख काव्य-प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है।

शंकरदेव और तुलसी के काव्यो मे अन्य प्रयोजनो मे आनन्द लाभ[88], पाप-नाश[89], पुण्य-प्राप्ति[90], भक्ति मे प्रवृत्ति[91], मोक्ष प्राप्ति[92] इत्यादि को भी स्थान मिला है।

आलोच्य कवियों शकरदेव और तुलसी दोनो ने काव्य-प्रयोजन के रूप में स्वान्तःसुख, लोक-मंगल, यश-लाभ के साथ ही आनन्द लाभ, पाप-नाश, पुण्य-प्राप्ति, भक्ति में प्रवृत्ति, मोक्ष प्राप्ति इत्यादि को स्वीकार किया है। यहां यह संकेत कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि इन कवियों द्वारा स्वीकृत स्वान्तःसुख, सर्वसुख या जनहित का विरोधी नहीं, अपितु पोषक एव समर्थक है।

काव्य-हेतु

काव्य-शास्त्रियों ने काव्य-हेतु के रूप में शक्ति अथवा प्रतिभा, व्युत्पत्ति अथवा निपुणता और अभ्यास को स्वीकार किया है। शंकरदेव और तुलसी की रचनाओं के अवगाहन से स्पष्ट होता है कि इन्हें काव्य-हेतु के रूप में तीन बातें मान्य हैं- (क) देव-कृपा, (ख) गुरु-कृपा एवं (ग) शास्त्र-अध्ययन।

(क) देव-कृपा : शंकरदेव ने मूलतः कृष्ण और तुलसी ने श्रीराम की कृपा को ही सर्वस्व स्वीकार किया है। उनकी कृपा मात्र से सब कुछ संभव है, कृपा के अभाव में उनकी भक्ति तक नहीं हो सकती। अस्तु, आराध्यदेव की कृपा काव्य-रचना यानी आराध्यदेव का भजन-कीर्तन करने के लिए आवश्यक है-

शंकरदेव : 1. हृदि माधव जोहि मति दिला।
सोहि अनुरूप करलु हरि लीला[93]

2. हे कृष्ण देव परि करो सेव, तुमि मोर निज स्वामी।
थाकि हृदयत शिखाइला जिमत, ताहाको रचिलो आमि।।[94]
3. हामु विद्यमान थाकिते तोहाक कोन चिन्ता,[95]..........।

तुलसीदास :

1 व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना।।[96]
2. तेहिं बल मैं रघुपति गुन गाथा। कहिहउँ नाइ राम पद माथा।।[97]

स्पष्ट है कि कविता को ये दोनों कविकृत नहीं, प्रभुकृपा का परिणाम मानते हैं। प्रभु-कृपा से ही कवि को वाणी मिलती है, जिसका वह उपयोग करता है। तुलसी की उक्ति है-

अस मानस मानस चख चाही। भई कवि बुद्धि बिमल अवगाही।।
भयउ हृदयँ आनन्द उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू।।
चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो।।[98]

शंकरदेव ने यहाँ तक घोषणा की है कि-

पौरुषक पुरुषक किछु नुइ। कृष्णर प्रसादे समस्ते हुइ।।[99]

प्रसिद्ध काव्यशास्त्री पंडितराज जगन्नाथ ने 'तस्याश्च हेतु क्वचिद् देवतामहापुरुष प्रसादादिजन्यमहष्टम्' - स्वीकार कर भगवद् कृपा को शास्त्रीय मान्यता प्रदान कर दी है। शंकरदेव और तुलसी की उपरि अंकित उक्तियॉ इसी परिप्रेक्ष्य में समझी जा सकती हैं।

आराध्य देव की कृपा के अतिरिक्त दोनों कवियों ने अन्य देवी-देवताओ की कृपा को भी महत्त्व दिया है। यद्यपि शंकरदेव ने कृष्ण के अतिरिक्त देव-देवियो को महत्त्व नहीं दिया है, तथापि कुछ उक्तियों में सरस्वती, महादेव आदि की कृपा की आकाक्षा भी की गयी है-

शंकरदेव :

1. कृष्ण दिले जेन मति जेन ररै सरस्वती
बिरचिलो सेहि अभिप्राय।[100]
2 नमो नमो हेर महेश्वर हरि, मरषा दोष आमार।[101]

तुलसीदास :

1. सारद दारुनारि सम स्वामी। रामु सूत्रधर अंतरजामी।।
जेहिं पर कृपा करहिं जनु जानी। कवि उर अजिर नचावहि बानी।।[102]
2. संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी।।[103]

तुलसीदास ने गणेश[104] शिव पार्वती[105] गंगा[106] सूर्य[107] देवी[108] यमुना[109] हनुमान[110] काशी[111]

चित्रकूट,[112] लक्ष्मण-भरत[113] इत्यादि की स्तुतियाँ भी की हैं। वे इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। अन्य देवी-देव की कृपा को तुलसी ने शंकरदेव की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है।

(ख) गुरु-कृपा : भगवद्-कृपा के पश्चात् गुरु-कृपा को भी शंकरदेव और तुलसीदास ने काव्य-हेतु के रूप मे महत्त्व दिया है-

शंकरदेव :

1. गुरु चरणे मने करि शिरोगत।[114]
2. गुरुर चरणे मने नमस्कार करि।
बिरचिबो उत्तराकाण्डर कथा सार।।[115]

तुलसीदास :

1. श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती।[116]
2. सिर धरि गुर पद पंकज धूरी।।[117]

दोनों कवियों ने अपनी रचनाओं मे गुरु की कृपा को प्रायः समान रूप मे महत्त्वपूर्ण माना है। शंकरदेव अपनी विभिन्न रचनाओं को प्रारंभ करते समय 'गुरु-कृपा' की आकांक्षा करते हैं। तुलसीदास ने भी राम-कथा को पहलीवार 'सूकरखेत' में गुरु-मुख से ही सुना था। उनकी उक्ति है-

मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।।[118]

X X X X

तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।
भाषाबद्ध करिबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहिं होई।।[119]

तुलसी की मान्यता है कि 'गुरु-पद-नख-मणि' के स्मरण मात्र से ही शिष्य के ज्ञान-नेत्र खुलते हैं। तत्पश्चात् वह काव्य-रचना मे समर्थ होता है।

(ग) शास्त्र-अध्ययन : काव्यशास्त्रियों ने व्युत्पत्ति अथवा निपुणता के अन्तर्गत विविध कलाओं, विधाओं, काव्य-शास्त्र, लोक-जीवन आदि के ज्ञान[120] और उचित-अनुचित का विवेक[121] स्वीकार किया है एवं अभ्यास को अलग से तीसरा काव्य-हेतु माना है। आलोच्य कवियों मे व्युत्पत्ति और अभ्यास दोनों काव्य-हेतुओं को शास्त्र-अध्ययन के रूप में स्वीकृति मिली है। शंकरदेव ने अपनी विभिन्न रचनाओं में उसके मूल-स्रोत और उपजीव्य ग्रंथों का संकेत किया है। तुलसीदास ने भी मानस के प्रारंभ में ही 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदित' की घोषणा की है इसे ही अन्यत्र भी इन्होने स्वीकार किया है[122]

शास्त्रो के अतिरिक्त दोनो कवियो ने पूर्ववर्ती कवियो की महत्ता भी स्वीकार की है। शंकरदेव ने पुराणकार व्यास,[123] वाल्मीकि[124] के साथ ही असमिया के प्रथम रामायणकार माधव कन्दलि[125] का भी सश्रद्ध स्मरण किया है।

तुलसी ने 'शाबर मन्त्रों के रचयिता'[126] भगवान शिव के साथ ही बाल्मीकि[127] जैसे पूर्व रामायणकारों का सश्रद्ध स्मरण किया है। मानस के प्रारंभिक श्लोक में उन्होने 'कपीश्वर' के साथ 'कवीश्वर'[128] को भी स्मरण किया है। पूर्व कवियों के स्मरण काव्य-परम्परा के सम्यक ज्ञान को संकेतित करते हैं।

काव्य-शास्त्रियों ने काव्य-हेतुओं-प्रतिभा और व्युत्पत्ति के सापेक्ष महत्त्व के विषय में विवाद उठाया है। यहाँ शंकरदेव और तुलसी के सन्दर्भ में वह विवाद देव-कृपा और शास्त्र-अध्ययन के रूप में स्वीकार भले ही न किया जाय, किन्तु आलोच्य कवियों को शास्त्र अध्ययन की अपेक्षा देव-कृपा का ही ज्यादा भरोसा है। शकरदेव जब कवि-कर्म को अपने लिए 'अयोग्य' घोषित करते हैं,[129] तो इसमें तुलसी के 'कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू'[130] की ही ध्वनि सुनायी पड़ती है। यों तुलसी ने शंकरदेव की अपेक्षा व्युत्पत्ति की महत्ता को व्यंजना के मिस अधिक स्पष्टता से स्वीकार किया है-

कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें।।[131]

अभ्यास को भी तुलसी ने शंकरदेव की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। 'उल्टा नाम जपत जग जाना बाल्मीकि भय ब्रह्म समाना',[132] तुलसी का कथन अभ्यास का ही विशिष्ट उदाहरण है। तात्पर्य यह कि शकरदेव और तुलसी दोनो ने मुख्य काव्य-हेतु- देव-कृपा अथवा प्रतिभा को स्वीकार किया है, किन्तु शंकरदेव ने प्राय उसे ही सर्वस्व मान लिया है जबकि तुलसीदास ने उसके साथ ही व्युत्पत्ति और अभ्यास की भी यथोचित सगति बैठायी है।

काव्य-वर्ण्य

ऐतिहासिक-पौराणिक आख्यानों से लेकर तुच्छातितुच्छ उपादान भी काव्य-वर्ण्य अथवा कथ्य के सीमान्तर्गत आते हैं। जहाँ तक शंकरदेव और तुलसी की बात है- भक्त-कवि होने के कारण भगवान् की भक्ति कर शरण प्राप्त करना और साधन रूप में उनके नाम, रूप, यश, लीला और धाम का गायन-कीर्तन करना ही दोनो के जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। इस प्रकार आलोच्य कवियों के आराध्य देव के गुण-कीर्तनादि से सम्बन्धित विषय ही काव्य-वर्ण्य के रूप में स्वीकार्य हैं। काव्य-वर्ण्य के रूप मे कृष्ण कथा और राम कृपा को स्थान मिलने का यही कारण है परिणामत शकरदेव की कृतियों मे 'कीर्त्तन घोषा' और भागवत एवम् तुलसीदास

की रचनाओ में 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' जैसी कृतियाँ महार्घ बनी हैं। इन कवियों की मान्यता है कि प्राकृतजनों का गुणगान अथवा ग्राम्य-गिरा का गायन करना एक प्रकार से सरस्वती का अपमान है-

शंकरदेव : ग्राम्य कथा कथने मलिन होवे वाणी।।
ताक शुद्ध करो कृष्ण कथाक बखानि।।[133]

तुलसीदास : कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना।।[134]

शुद्ध काव्य-शास्त्र की दृष्टि से ये मान्यताएँ भले ही स्वीकृत न हों किन्तु भक्ति-काव्य की दृष्टि से इनकी सार्थकता स्वतः सिद्ध है। तुलसी की मान्यता है कि भक्ति के निरूपण में सरस्वती भी स्वयम् दौडती हुई आती है-

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई।।[135]

भक्ति-काव्य को एकमात्र वर्ण्य-विषय मानने का ही परिणाम है कि दोनो कवि बार-बार लोगों को सबकुछ छोडकर भगवान का भजन कर उनकी कृपा प्राप्त करने का उपदेश देते हुए अघाते नहीं है-

शंकरदेव : 1. बिने भकति गति नाइ।[136]
2. कलिको परम धरम हरि नाम।[137]

तुलसीदास : 1. पाई न केहिं गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना।[138]
2. राम कथा कलि मल हरनि मंगल करनि सुहाई।[139]

दोनों कवियों ने कृष्ण और राम के चरित्रों के गायन-कथन-पठन- श्रवण आदि को बार-बार जीवन का एकमात्र कर्तव्य और मोक्ष फलदायक घोषित किया है। भक्ति-काव्य का विषय विष्णु अथवा वैष्णव चरित, कुछ भी हो सकता है-

शंकरदेव :

1. विष्णु वैष्णवर किंचितेको नाहि भेद।
दुइरो कथा करे पातकर कंध छेद।।[140]
2. विष्णु वैष्णवर कथा दुयो समतुल।
श्रवण कीर्तने करे पापक निर्मूल।।[141]

तुलसीदास :

1. एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा।।
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि।।[142]
2. राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान।।[143]
3. राम ते अधिक राम कर दासा[144]

इस आदर्श पर ही शंकरदेव ने अपने आराध्यदेव कृष्ण के वृत्त के साथ ही हरिश्चन्द्र, अजामिल, बलि, हरमोहन, अहल्या, परीक्षित, गजेन्द्र-मोक्ष, प्रह्लाद इत्यादि से सम्बन्धित रचनाएँ कीं। तुलसी ने भी इसी आदर्श को ध्यान में रखते हुए राम-वृत्त के साथ-साथ शिव-पार्वती वृत्त, कृष्ण-वृत्त को अपने काव्यो का वर्ण्य बनाया।

तुलसीदास की तो निश्चित धारणा है कि राम-नाम से रहित श्रेष्ठ कवियों की रचनाएँ भी शृंगारवती वसनहीन नारियों की तरह भद्दी प्रतीत होती है,[145] इसके बिपरीत काव्यगुणों से हीन कवियों की वाणी राम-नाम से ओतप्रोत होने पर समादृत होती है-

सब गुन रहित कुकवि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी।।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस सन गुनग्राही।।[146]

काव्यांग

काव्य-शास्त्रियो ने काव्य के कल्पपक्ष के अन्तर्गत विभिन्न काव्यांगों पर विचार किया है। काव्यांगों में मुख्यत: शब्दार्थ, रीति, गुण, रस, अलंकार और छन्द पर विचार किया जाता है। इनमें रस के अतिरिक्त शेष अंग कविता के बाह्य-पक्ष से सम्बन्धित है। कथ्य अथवा वर्ण्य-विषय के संप्रेषण के लिए कवि इन्हीं का सहारा लेता है। चूँकि कविता शब्दार्थमयी रचना है, इसीलिए शब्द विन्यास एवं अर्थ-व्यजना से सम्बन्धित विधान ही कला-पक्ष के अन्तर्गत गृहीत होते हैं।

शंकरदेव और तुलसीदास की रचनाओ के अध्ययन और परीक्षण से स्पष्ट है कि दोनों को काव्य-शास्त्र का गंभीर ज्ञान था। शब्द-विन्यास और अर्थ-व्यंजना छन्द-विधान, अलंकार विधान इत्यादि से वे पूर्णत. परिचित और कुशल प्रयोक्ता थे। काव्यागों के सम्बन्ध में शंकरदेव के विचार के सम्बन्ध में अन्त:साक्ष्य से प्रमाण नहीं मिलता है। इतना स्पष्ट है कि कविता में उन्होंने रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में उनकी निम्नांकित उक्तियाँ देखी जा सकती है-

शंकरदेव :

1. कठोरक भय कथार आशय, दिलो किछो काव्यरस।
   अबिचारि ताक हठाते आह्माक, निदिबाहा अपयश।।[147]
2. आमो महा कविचय काव्य रस निबंधय, ताक निन्दै कोन साधुजन।
   जिबा किछो बढ़ा देखा इटो अपराध एरा, व्यासो देन्त कथात रजन।।[14..]
3. बुजि अभिप्राय दिलो ठाय किछु काव्यरस जिबा।
   अबिचारि ताक हठाते आमाक नि दावाणी नुबुलिबा[49]

तुलसीदास को भी काव्य मे रस-परिपाक मान्य है। 'रामचरितमानस' के मंगलाचरण की आरम्भिक पंक्तियों[150] के आधार पर यह अनुमित होता है कि उन्हे 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' मान्य है। इस आदर्श का पालन उनकी रचनाओ मे सर्वत्र मिलता है। उनके द्वारा रस की व्यापकता का प्रतिपादन किया जाना भी इसी का पोषक है। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों चित्त-मुक्ति के द्वारा काव्य मे आनन्दानुभूति कराना चाहते हैं। शंकरदेव द्वारा श्रृंगारिक प्रसगों को भी भक्ति-रस मे परिवर्तित करने की चेष्टा भी इसी का पोषक है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उनके मन में कहीं न कहीं यह भाव वर्तमान रहता है कि शृंगार की योजना भक्ति को कहीं अन्यथा न कर दे। इसीलिए वे अपनी ओर से यत्र-तत्र सफाई भी देते हैं-

1. यिटो भकतर आछय शृंगार रनत सनते रति।
   इहार श्रवण कीर्तने हुइबेक, ताहारो निर्मल मति।[151]

2. शृंगार रसे जार आछै रति। आके शुनि हौक निर्मल मति।[152]

तुलसीदास को इस ढंग से सफाई पेश करने की आवश्यकता ही नहीं हुई है। उन्होंने शृंगार को कहीं अमर्यादित होने ही नहीं दिया है। निष्कर्ष रूप में कहा जायेगा कि शकरदेव और तुलसी दोनों को काव्य मे रस की योजना मान्य है। रसो मे दोनों भक्ति रस को ही श्रेष्ठ मानते है। उनकी दृष्टि में भक्ति रस से ओत-प्रोत काव्यों में साधारणीकरण की असाधारण शक्ति होती है-

रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा।।
मन करि बिषय अनल बन जरई। होई सुखी जौं एहि सर परई।।[153]

तात्पर्य यह है कि भक्ति-रसात्मक काव्य के अनुशीलन से पाठक को ब्रह्मानन्द और ब्रह्मानन्द-सहोदर रस, दोनों की समान रूप में अनुभूति हो सकती है।

रस से भिन्न काव्यांगों के सम्बन्ध मे शंकरदेव की मान्यता को स्पष्ट करनेवाली पक्तियाँ नहीं मिलती है, जबकि तुलसी की रचनाओं में प्राप्त होनेवाली विभिन्न काव्यांगों से सम्बन्धित उक्तियों में से यहाँ कुछ उपस्थित की जाती हैं-

1. आखर अरथ अलकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना।[154]
2. अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा।।[155]
3. धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहुभाँती।।[156]
4. उघटहि छंद प्रबंध, गीत-पद, राग तान बंधान।[157]
5. सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे।[158]
6. कथा प्रबंध बिचित्र बनाई।[159]
7. कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा[160]

उपरि उक्तियों से स्पष्ट है कि तुलसी कविता में शब्दार्थ के संतुलन विविध छन्दों के प्रयोग, नाद योजना और व्यंजना (ध्वनि-योजना), वक्रोकित, वृत्ति गुण सन्निवेश, दोष-परिहार, प्रबन्धत्व इत्यादि के पक्षधर थे। वस्तुत इन पंक्तियो के माध्यम से तुलसी ने उन सारी काव्य-शास्त्रीय मान्यताओं को समेट लेने की चेष्टा की है जिनके कारण कोई भी कविता शाश्वत महत्त्व की हो जाती है। तुलसी की रचनाओं के अवगाहन से विदित है कि काव्यांगों के सन्निवेश में बडे पटु थे। शकरदेव ने भी अपनी कविता में काव्यागों का सन्निवेश किया है, किन्तु उनमे वैसे सैद्धान्तिक कथनों का अभाव है जैसा तुलसी में मिलता है।

काव्य-रूप

शकरदेव और तुलसीदास दोनो ने विभिन्न काव्य-विधाओ में अपने भावों और विचारो को अभिव्यक्त किया है। मोटे तौर पर दोनों ने प्रबंध और मुक्तक शैली मे रचनाएँ की हैं। इनके अतिरिक्त शंकरदेव ने नाटक भी लिखे हैं। दोनो की रचनाओं के यत्र-तत्र काव्य-रूप के किंचित् संकेत मिल जाते हैं। यथा-

शंकरदेव : शंकरे रचिला कृष्ण चरित्र पयार।।[161]

तुलसीदास : 1 कथा प्रबध बिचित्र बनाई।[62]

2 सुठि सुदर संवाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि।[163]

3. उछरहिं छंद-प्रबंध गीत-पद राग-तान-बधान।।[164]

इन उक्तियों मे 'चरित्र' (चरित काव्य) 'पयार', 'कथा प्रबंध' (प्रबध काव्य) 'सवाद' (सवाद काव्य) 'गीत और पद' (रागबद्ध) जैसे काव्य-रूपों के प्रत्यक्ष उल्लेख हुए है। दोनों कवियों मे ये काव्य रूप प्राप्त भी होते हैं, पर किसी ने भी इन्हे परिभाषित करने की कोशिश नहीं की है।

निष्कर्ष

वस्तुत. शंकरदेव और तुलसीदास भक्त कवि थे, काव्यशास्त्री नहीं। उनका उद्देश्य आराध्यदेव के नाम, लीला इत्यादि का गायन करना था, विशिष्ट काव्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करना नहीं। इतना निश्चय है कि आलोच्य दोनों कवि भारतीय काव्य-शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा और मान्यताओ से पूर्ण परिचित थे। साथ ही उनके मन मे शुद्ध-काव्य और भक्ति-काव्य का अन्तर भी वर्तमान था। उनके रचनाओ मे प्रकीर्ण रूप में काव्य विषयक जो मान्यताएँ व्यक्त हुई हैं, उन्हे भक्ति काव्य-शास्त्र विषयक मानक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

शंकरदेव और तुलसी की रचनाओ मे काव्य-सिद्धान्तों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में काव्य कवि और प्रमाता की अभिधा क्रमश हरिकथा

(अन्यथा आराध्यदेव के नाम, रूप यश और क्रीड़ा का कीर्तन), गायक (अथवा भक्त) और श्रोता है। पाप-क्षय, पुण्य-प्राप्ति, भक्ति में प्रवृत्ति और मोक्षलाभ ही काव्य के प्रयोजन हैं। भगवत्कृपा, गुरु-कृपा तथा भक्ति-शास्त्र और भक्ति-काव्य का अध्ययन ही काव्य की प्रेरणा शक्ति-काव्यहेतु हैं। काव्य में रस (भक्ति रस) की अवस्थिति दोनों को मान्य है। दोनों रसवादी कवि है। काव्यरूपों के सम्बन्ध में विचारों का अभाव होते हुए भी उनके द्वारा प्रयुक्त विभिन्न काव्य रूपो मे प्रयोगगत नवीनता प्राप्त होती है।

समासतः कहा जाएगा कि शंकरदेव और तुलसी के विचार परम्परा से समृद्ध होते हुए भी गतानुगतिक नहीं हैं। दोनों की महत्ता नवीन काव्य-सिद्धान्तों के प्रतिपादन में नहीं, पारम्परीण सिद्धान्तो को भक्तिकाव्य के अनुरूप समन्वित करने की संभावनाओं के अनुसंधान में निहित है। भक्ति-काव्यशास्त्र विषयक मानक के सैद्धान्तिक कथन एवं प्रयोगपरक निरूपण की दृष्टि से शंकरदेव की तुलना में तुलसी की रचनाएँ एवं उनमें व्यक्त विचार अधिक महत्त्व के हैं।

संदर्भ :-

1. काव्यालंकार 1/3
2. काव्यालंकार सूत्र 1/2/2-3
3. If you wanted to know something about an automobile, would you go to a man who had made one and driven it, or to a man merely heard about it
   - Quoted from" Modern Poets on Modern Poetry," p. 7
4. The perfet poet is also the perfect critic. Ibid, P. 170
5. राम (उ) 7/756 (आमार कविता जानि)
6. कीर्तन 609, 724, 1313; भाग 8/1092
7 ह उ 2, रु ह का 363, 626; भाग 10/1976
8. रु.ह. का 533
9. ह.उ. 356, रु. ह का 4; भाग 11/547, 840
10 रु ह. का 110, 453
11 रु ह.का 430, 754, भाग 8/400
12. वही 777, भाग 8/293
13. कीर्तन 142 (हरि कीर्तनत करा आदर)
14 वही 511, (कृष्ण कथा श्रवणे कीर्तने भवतरि)
15 मानस 1/7/6
16 वही 8/?

17. भाग 10/1477
18. अपा 6
19. वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि।
    मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ।। मानस 1/1 (श्लोक)
20. मानस 1/8/5
21. वही 1/10/4-5
22. भाग 8/354, मानस 1/9/2
23. वही 8/1353, वही 1/9/3
24. मानस 1/14 (क)
25. ह उ 178, 429
26. कीर्तन 1690, 1722, रु ह का. 532, 794
27. बर 8, 9, 11; कीर्तन 1195, 1300; ह उ 371, 616
28. बर 14, 31
29. वही 15
30. कीर्तन 1345
31. का द ना पृ. 12
32. मानस 1/ 35/1
33. वही 1/11/5
34. वही 1/9/3, 1/10/2
35. भाग 12/531
36. वही 10/1476
37. वही 10/599
38. भ प्र 4
39. मानस 1/8/6
40. जदपि कबित रस एकउ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि माहीं।।
    मानस 1/4/4
41. भाग 1/816
42. वही 10/1477
43. राम भगत तुम्ह मन क्रम बानी। मानस 1/46/2
44. मानस 1/39
45. श्रोता बक्ता ग्याननिधि कथा राम के गूढ। मानस 1/30 (ख)
46. सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह कें बिमल बिबेक। मानस. 1/9
    सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही।
    मानस 1/9/3
47. मानस 1/37/1
48. वही 37/2

49 ते नर यह सर तजहि न काऊ। जिन्ह के राम चरन भल भाऊ।।

मानस 1/38/4

50. कीर्तन 547

51 वही 592

52. वही 541, भाग 8/736

53. भाग 1/1214

54. मानस 3/96 (क)

55. वही 2/29/1

56. वही 1/34/7

57. कीर्तन 210

58. बर 10

59. मानस 7/48/2

60. कीर्तन 642

61. वही 1354

62. के गो ना

63. J W.H. Atkins, Literary Criticism in Antiquity (vol. ii) 8.352

64. महापापचय आछे जार हृदयत। भकतिर कथा तार नपशे कर्णत।।

भ प्र 7

65. कीर्तन 143, भाग 10/4

66. मानस 1/8/3

67. वही 7/52/1

68. वही 1/10/4-1/11

69. डॉ श्रीधर सिंह, तुलसीदास की कारयित्री प्रतिभा का अध्ययन,

(विषय [illegible]) पृ. 10-15

70. कीर्तन 609

71 मानस 1/7 (श्लोक)

72. बर 17

73. मानस 7/70/3

74. रु. ह का 626

75. ह.उ 616

76. भाग 11/4

77. राम (उ.) 756

78. मानस 1/8/2

79. वही 1/13/4

80 वही 1/15

81 वही 1/14 ग

82. जगते पवित्रकारी साक्षाते अमृत। भ. प्र. 6
राम कथा जग मंगल करनी। मानस 1/9/5
83. का,द,ना,
84. भाग 12/533
85 मानस 1/13/5
86. वही 1/10 (छ.)
87 प. प्र ना , का द. ना
88. भाग 1/1111
89 राम (उ) 755, मानस 1/10/3
90. वही 4, वही 1/119/4
91 बर 9; वही 1/10 (क)
92 कीर्तन 77; अ पा. 3
93. रु ह ना (मुक्ति मंगल भटिमा)
94. भाग 2/1476
95 के गो. ना.
96 मानस 1/12/2
97 वही 1/12/5
98 वही 1/38/5-6
99, कीर्तन 1576
100 वही 608
101. भाग 10/599 (कुरुक्षेत्र)
102. मानस 1/104/3
103. वही 1/35/1
104. वि प 1
105. वही 3-14
106 वही 17, मानस 1/14/1
107 वही 2
108. वही 15
109 वि प 21
110. मानस 1/14/2
111. वि प 22
112. वही 23
113. वही 37, 39
114. अ. पा 5
1 5 राम उ 3
16 मानस 1/5/3

117. वही 1/33/1
118 वही 1/30
119 वही 1/30/1
120. भामह, कसव्यालंकार, 5/4. मम्मट, काव्य-प्रकाश 1/3
121 राजशेखर, काव्य मीमांसा पृ 16
122 मानस 7/68/3
123 भाग 1/821
124. वही 6/299
125 राम (उ.) 323
126 मानस 1/14/3
127. वही 1/14 (घ)
128 कवीश्वरकपीश्वरौ, मानस 1/ श्लोक 4
129. करजोरे बुद्धलोक बोलो क्षमियोक मोक, आमार अयोग्य इटो कर्म।
पद्त दूषण पाइ निंदिबेक नजुवाइ, महतंजनर क्षमा धर्म।।
राम (उ) 7/323
130 मानस 1/8/4
131. वही 1/8/6
132 वही 1/18/3
133. भाग 1/816
134 मानस 1/10/4
135 वही 1/10/2
136 बर 13
137. वही
138 मानस 7/129 (छ)
139 वही 1/141
140. भाग 1/811
141 ह.उ 4
142. मानस 7/129/3
143. वही 7/128
144. वही 7/119/8
145. मानस 1/9/2
146 वही 1/9/2
147. ह उ. 617
148. भाग 10/1477
149. वही 8/311
5 मानस /श्लोक

151 भाग 10/1540
152. कीर्तन 975
153 मानस 1/34/4
154. वही 1/8/5
155. वही 1/36/4
156 वही 1/36/4
157 गी व 1/2/15
158 मानस 2/293/1
159. वही 1/32/1
160. वही 1/8/5
161. भाग 1/800
162. मानस 1/32/1
163. वही 1/36
164. गीता 1/2/15

* * *

धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्पराओं के अतिरिक्त तत्युगीन सामाजिक-राजनैतिक और शंकरदेव एवं तुलसीदास की वैयक्तिक परिस्थितियों ने भी उनकी विचारधाराओं के विकास और पोषण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सामाजिक भेदभाव, राजनैतिक उत्पीड़न और आर्थिक वैषम्य से प्रभावित प्रजा के कष्ट से दोनों समान रूप से द्रवित हुए थे। बचपन में माता-पिता के प्यार का अभाव दोनों को था। अनाथ शंकर और तुलसी अपने प्रौढ़िप्रकर्ष पर पहुँचकर ही सनाथ बने थे। संघर्ष प्रधान जीवन ने दोनों को आत्मविश्वासी, दृढ़ निश्चयी और विषम परिस्थितियों में भी [illegible] मार्ग सधान करनेवाला व्यक्तित्व प्रदान किया था। विविधता में एकता के सूत्र को खोज लेना उनकी समान ईक्षण शक्ति, पैनी प्रतिभा और योग्य विचारक होने का परिचायक है।

अद्वैतवादी दर्शन का समर्थन दोनों में समान रूप से प्राप्त होता है। दार्शनिक स्तर पर ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप दोनों को स्वीकार्य हैं, किन्तु एक अन्तर के साथ। शंकरदेव में निर्गुण ब्रह्म को अधिक महत्त्व प्राप्त है जबकि तुलसी में सगुण ब्रह्म को। दोनों की दृष्टि में जीव ब्रह्म का चिद् अंश है और माया के वशीभूत होने के कारण ही ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होता है। माया ब्रह्म की दासी है। माया के अविद्या रूप से मुक्ति [illegible] मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है। मुक्ति की अपेक्षा भक्ति को दोनों ने समान रूप से अधिक महत्त्व दिया है।

शंकरदेव और तुलसीदास का यथार्थ व्यक्तित्व भक्त के रूप में ही उभरा है। दोनों की दृष्टि में भक्ति परम धर्म है। भक्ति को दोनों जीवन का अविच्छिन्न अंग मानते हैं। शंकरदेव ने आराध्यदेव के ऐश्वर्य रूप के अंकन पर अधिक बल दिया है, किन्तु तुलसी ने आराध्यदेव के शील, शक्ति और सौन्दर्य के समन्वित रूप पर। शंकरदेव के आराध्यदेव हैं देवकी पुत्र कृष्ण और तुलसी के दाशरथि राम। भक्ति के भेद और स्तर दोनों को मान्य हैं, किन्तु दोनों ने भक्ति की सहजता को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है। इसीलिए आराध्यदेव का नामस्मरण मुख्य और सहज साधन होते हुए भी साध्य के स्तर तक पहुँचता हुआ प्रतीत होता है। स्वरूप-सेवा शंकरदेव के यहाँ [illegible] है। तुलसीदास स्वरूप सेवा और निर्गुणोपासना में अन्तर नहीं मानते हैं। दोनों भक्ति का लक्ष्य भगवान की शरणागत प्राप्ति मानते हैं। भक्ति के मूल आदर्श और लक्ष्य में दोनों में किसी प्रकार का वैषम्य नहीं है। भगवान और [illegible] सेवक संबंध भी दोनों को मान्य है। दोनों दास्य भाव को और [illegible]

धार्मिक बाह्याडम्बर और आचारभ्रष्टता का पुरजोर विरोध दोनों में मिलता है। समस्त धार्मिक विसंगतियाँ दोनों की दृष्टि में कलिकाल जनित हैं। उन्हे समाप्त कर श्रुति-सम्मत हरि-भक्ति पथ का संधान करना ही दोनों की धार्मिक विचारधाराओं का मूलादर्श रहा है। इसके निमित्त दोनों ने विविधता में एकता द्वैतता में अद्वैतता, विद्वेष की जगह धार्मिक सहिष्णुता एव शील, सयम, परोपकार, सत सगति इत्यादि पर अधिक बल दिया है। धार्मिक अस्वस्थता के वातावरण को समाप्त कर, नयी धार्मिक चेतना उत्पन्न करने की दृष्टि से शंकरदेव ने जिस पद्धति को धर्म-प्रचार के माध्यम के रूप में स्वीकार किया, वही कालान्तर में सत्रो और नामघरों के रूप में सम्पूर्ण असम मे धार्मिक चर्चा के केन्द्र के रूप मे लोकप्रिय हुआ और उनके द्वारा प्रचारित धर्म 'एकशरणीया' तथा 'महापुरुषीया' धर्म के नाम से विख्यात हुआ। तुलसी ने कोई विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय नहीं चलाया। भक्ति और धर्म को साधन रूप में स्वीकृत कर उन्होंने जिन हनुमान मूर्तियों की स्थापनाएँ कीं अथवा अखाडे चलाये वे ही प्रकारंतर से सामाजिक सगठन के भी केन्द्र स्थान बने। शंकरदेव की धार्मिक विचारधारा में पौराणिकता और शास्त्रीयता अपेक्षाकृत अधिक है, जबकि तुलसी ने उसके साथ ही लोकजीवन में व्याप्त धर्म को भी पर्याप्त महत्त्व दिया है।

शंकरदेव और तुलसीदास दोनों की भक्ति निवृत्ति मार्गी नहीं, प्रवृत्ति-मार्गी है। वह शास्त्र सम्मत होकर भी लोकधर्म से विमुख नहीं है। वस्तुत: वह लोकधर्म से जुड़ कर ही समाज का पर्याप्त संस्कार करने मे समर्थ हो सकी है। तत्कालीन सामाजिक विसंगति और आर्थिक वैषम्य को दूर कर दोनों ने वैष्णवी दृष्टि से उसे सगत बनाने और उसमें साम्य उत्पन्न करने की चेष्टाएँ की है। उनकी रचनाओं मे वर्णित विभिन्न आंचलिक रीति-रिवाजों, पर्व-त्यौहार, लोक-विश्वास प्रसाधन और वस्त्राभूषणों को महत्त्व मिलना उनकी लोकसस्कृति के प्रति सुरुचि सम्पन्नता के ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। शंकर और तुलसी की रचनाओं मे वर्णित अनेक रीति-रिवाज सर्वभारतीय है, पर कुछ का महत्त्व अंचल विशेष तक ही सीमित है। आंचलिक रीति-रिवाजों में वाह्य भेद होते हुए भी लक्ष्य और उद्देश्य में आन्तरिक साम्य है। समाज का प्रत्येक घटक सुखी हो, यही दोनो को मान्य है। दैनन्दिन उपयोग और जीवन-यापन की आवश्यक वस्तुओं का अभाव अनेक बुराइयों का जनक है। इस अभाव में स्वस्थ समाज की कल्पना असभव है। इसलिए आय के अनुसार व्यय करना ही दोनों की दृष्टि में मुख्य आर्थिक सूत्र है।

यह सच है कि शकरदेव और तुलसीदास अथवा राजनैतिक

विचारक नहीं थे, फिर भी तत्कालीन समाज और राजनीति में व्याप्त छल-छद्म धोखा-घड़ी इत्यादि को उन्होंने अनदेखा नहीं किया है। तत्कालीन शासक और उसकी दुर्नीतियों की व्यंजना उन्होंने कंस और रावण जैसे पौराणिक पात्रों और उनके कार्यो के मिस की है। उसे समाप्त कर आदर्श और कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना दोनो का काम्य है। इस दृष्टि से शंकरदेव द्वारा वर्णित हरिश्चन्द्र राज्य और तुलसी द्वारा वर्णित राम-राज्य में अन्तर प्राय. नहीं है। इस प्रकार 'रामराज्य' ही दोनो की दृष्टि मे धार्मिक और प्रजा कल्याणकारी आदर्श राज्य है। राजा-प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध को दोनो ने स्वामी-सेवक अथवा पिता-पुत्र सम्बन्ध के रूप में आदर्श घोषित किया है। वस्तुत. यहाँ भी दोनों की भक्त दृष्टि ही प्रमुख है। इतना अवश्य है कि सामाजिक- राजनैतिक विचारधाराओं के निरूपण मे शंकरदेव की अपेक्षा तुलसी की दृष्टि अधिक पैनी है।

शंकरदेव और तुलसी की रचनाओं में व्यक्त काव्य-सबंधी विचार भी प्राय एक समान हैं। दोनो भारतीय काव्य-सिद्धान्त से पूर्ण परिचित हैं। दोनों रसवादी कवि है। उनकी दृष्टि में कविता मे भक्ति रस का होना आवश्यक है। कविता वही उत्तम होती है जो भगवान के नाम, रूप, लीला आदि से सम्पृक्त होती है। हरिकथा अथवा हरिगुण वर्णन के अभाव में कविता का महत्त्व नहीं होता। इस प्रकार कवि होता है भक्त-कीर्तनकार अथवा गायक। इस प्रकार के पारम्परीण काव्य-सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी शुद्ध-काव्य और भक्ति-काव्य में अन्तर करने के पक्षधर हैं। यही उनकी वैचारिक नवीनता है। दोनों ने प्रबन्धात्मक रचनाओ के साथ ही मुक्तकों की भी रचनाएँ की हैं। उनकी रचनाओं मे तत्कालीन प्रचलित विभिन्न काव्य-रूपों, काव्य-शैलियों और छन्दों के वे कुशल प्रयोग प्राप्त होते है।

शंकरदेव और तुलसीदास दोनो मध्ययुगीन भारत की महान विभूति थे। दोनो ने अपने चिन्तन से विचारो का जो आलोक फैलाया उससे आज भी भारतीय जनमानस प्रेरणा प्राप्त कर रहा है। दोनों की प्रज्ञा पैनी और प्रतिभा प्रदीप्त थी। दोनों योग्य विचारक के साथ ही कुशल संगठन-कर्त्ता भी थे। विचारो को मूर्त्तता प्रदान करने के लिए ही उन्हें सगठन और प्रचार कार्य भी अपनाना पड़ा था। उनकी संगठनात्मक क्षमता का अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है कि घोर विरोध और अनवरत संघर्ष के बावजूद वे अपने विचारों और सिद्धान्तों को विरोधियों के हृदय में भी पनपाने में समर्थ हुए। शकरदेव द्वारा प्रतिपादित मत को कोचराज नरनारायण द्वारा राजकीय मान्यता प्राप्त होना और शैवो के गढ विश्वनाथ पुरी वाराणसी म तुलसी का जम जाना इसी के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं

शकरदेव के विचारो की महनीयता की कल्पना मात्र इसी से की जा सकती है कि आज असम में हिन्दू धर्म और सस्कृति के रूप मे जो कुछ बचा है, उसका नब्बे प्रतिशत मात्र उन्हीं के कारण है। यदि शंकरदेव का वैचारिक आलोक इसे प्राप्त नहीं होता तो इसकी प्रकृति और संस्कृति का स्वरूप भारत की मुख्य संस्कृति गंगा से भिन्न, बहुत कुछ नागालैण्ड और मिजोरम जैसा होता। तुलसी के वैचारिक आलोक से समस्त हिन्दी क्षेत्र आज भी द्योतित है। उनके 'रामचरितमानस' को प्राप्त लोकप्रियता इसका समर्थ प्रमाण है। भारत की नऊॅ, मारिशस, फिजी, सूरीनाम आदि देशों में गये भारतीयों के संस्कृति रक्षण का कार्य भी तुलसी के 'रामचरितमानस' ने ही किया है। यह उस मे प्रतिपादित विचारधारा का ही कमाल है कि विदेशो में भी भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि से खोखले होने से बचे रहे।

वस्तुत: शंकरदेव और तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित भक्ति से सम्पृक्त विभिन्न विचार निषेधात्मक क्रान्ति नहीं, विधायक धर्म है। उनमे निषेध की अपेक्षा विधि के तत्त्व ही अधिक हैं। 'शत्रु मित्र उदासीन सबातो समान' (शकरदेव), अथवा 'सीय राम मय सब जगजानी' (तुलसीदास) जैसी उक्तियों में शंकरदेव और तुलसीदास का मानव प्रेम ही छलकता दिखायी पड़ता है जो 'कृण्वन्तो विश्वार्यम' के वैश्विक उद्घोष का ही समसामयिक रूप है। भारतीय राष्ट्र की एकात्मकता और बिखराव को रोकने की दृष्टि से नहीं, विश्वमानवता के कल्याण की दृष्टि से भी शंकरदेव और तुलसी की विचारधारा की प्रासंगिकता आज भी कायम है।

संदर्भ :-

1 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी- हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 70-71

2. थोड़ाकरमदर्शनी, पृ.126

3. डॉ मागध, शंकरदेव : साहित्यकार और विचारक, पृ 465

* * *

परिशिष्ट
ग्रंथ सूची

अंग्रेजी

आर. पार्थसारथी . रामानुजाचार्य, नेशनल बुक ट्रस्ट, 1969

आर मालाकर (सं) टिसिंग ऑफ शंकरदेव, चंडीगढ, 1977

एउवर्ड गेइट ए हिस्ट्री ऑफ असम, (पुनर्मुद्रित), कलकत्ता,1967

एडमर जे बेबिनिउ : लव ऑफ गड एण्ड सोसल ड्यूटी इन द रामचरितमानस, दिल्ली, 1979

एन के. बोस . असम इन द आहोम एज,

एन वी एस मूर्ति वैष्णविज्म ऑफ शंकरदेव एण्ड रामानुज-ए कम्परेटिव स्टडि, गौ वि , 1960 (टकित)

एफ आर एलसिन : तुलसीदास कवितावली, लंदन, 1964

एफ एस ग्राउज : द रामायण ऑफ तुलसीदास (अंग्रेजी अनुवाद), इलाहाबाद 1937

एम पी. बहादुर . दोहावली, वाराणसी, 1978

एस सी दास इन्ट्रोडिउसिंग असम वैष्णविज्म, गुवाहाटी 1952

एस सीतारमैय्या : वाल्मीकि रामायण, नई दिल्ली, 1972

कनकलाल बरुवा अर्ली हिस्ट्री ऑफ कामरूप, गुवाहाटी 1976

केशवानन्द देवगोस्वामी . अर्ली हिस्ट्री एण्ड डेवलेपमेन्ट ऑफ द पुरुष संहति सेक्ट ऑफ असम वैष्णविज्म, गौ वि 1963 (टंकित)

जन पेटर वादे : एन एकाउन्ट ऑफ असम (सं बी शर्मा), नार्थ लक्षीमपुर, 1927

जे. मेकफि . द रामायण ऑफ तुलसीदास, एडिनवर्ग, 1930

जोगिराज बोस इण्डिया ऑफ द एज ऑफ द ब्राह्मणज, कलकत्ता, 1969

टी एम पी. महादेवन · शंकराचार्य, नेशनल बुक ट्रस्ट, 1968

डब्ल्यू डी पी हिल : द होली लेक ऑफ द एक्टस ऑफ राम (रामचरितमानस का अंग्रेजी रूप), ऑक्सफोर्ड, 1971 (द्वि सं)

डिम्बेश्वर नेओग जोरहाट 1949

न्यू लाइट ऑन द हिस्ट्री ऑफ असमिया लिटरेचर जोरहाट 1962

देवेन्द्र सिंह : तुलसीदास, नेशनल बुक ट्रस्ट, 1971

नगेन्द्र (सं.) : तुलसीदास : हिज माइण्ड एण्ड आर्ट, मेरठ, प्र. स.

नगेन्द्र नाथ आचार्य . द हिस्ट्री ऑफ मेडियेवल असम, गुवाहाटी, 1966

पी. नागराज राव . इन्ट्रोडक्शन टू वेदान्त्, वम्बई 1958

प्रताप चन्द्र चौधरी . द हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन ऑफ द पिपुल ऑफ असम, गुवाहाटी, 1966

फतेह बहादुर : आइडियल किनशिप, अम्बिकापुर, 1926

फ्रेंसिस हेमिल्टन : एन एकाउन्ट ऑफ असम, गुवाहाटी 1963

वाणीकान्त काकति : वैष्णवाइट मिथस एण्ड लिजेन्डस्, गुवाहाटी, 1952
. द मदर गडेस कामाख्या, गुवाहाटी, 1961

बिरिंचि कुमार बरुवा : ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ असम, गुवाहाटी, 1969
: शंकरदेव-वैष्णव सेंट ऑफ असम, गुवाहाटी, 1960

बिपिन चेतिया : अद्वैतवाद इन शंकरदेवस थियलॉजी अर फिलॉसफी ऑफ शंकरदेव, गौ वि 1970 (टंकित)

बेजामिन खान . द कनसेप्ट ऑफ धर्म इन वाल्मीकि रामायण, दिल्ली, 1965

भव प्रसाद चलिहा (स.): शंकरदेव-स्टडिज इन कल्चर, गुवाहाटी, 1978

महेश्वर नेओग . शंकरदेव एण्ड हिज टाइम्स, गौ वि, 1968

राजमोहन नाथ . द बेकग्राउण्ड ऑफ असमीज कल्चर, गुवाहाटी

राजबली पाण्डेय · हिन्दू संस्कारज, दिल्ली, 1976

शरतचन्द्र गोस्वामी : इन्ट्रोडिउसिंग असम वैष्णविज्म, गुवाहाटी, 1952

सत्येन्द्र नाथ शर्मा · द नियो वैष्णवाइट मुवमेंट एण्ड द सत्र इस्टिटिउसन, गौ. वि, 1968

स्वामी माधवतीर्थ . माया, उदयपुर, 1943

सुनीति कुमार चातुर्ज्य : द रामायण, कलकत्ता, प्र सं.
किरात-जन-संस्कृति, गौ वि, प्र सं

हरमोहन दास . शंकरदेव-ए स्टडि, गुवाहाटी, 1945

हरिश्चन्द्र भट्टाचार्य अरिजिन एण्ड डेवेलपमेंट ऑफ द असमीज ड्रामा एण्ड द स्टेज गुवाहाटी 964

असमिया

उपेन्द्रचन्द्र लेखारु (सं.) . कथा गुरुचरित, नलबारी, 1964

एल. के. दत्त (सं) . असम बुरंजी, गुवाहाटी, 1938

एस के. दैवज्ञ · दरग राजवंशावली (सं. नवीनचन्द्र शर्मा), गुवाहाटी, 1973

एस सी गोस्वामी असमीया साहित्यर चाणेकि, कलकत्ता वि., 1928

कालिराम मेधि (सं.) : अकावली, गुवाहाटी, 1950

: महापुरुष शंकरदेवर वाणी, नलबारी, 500 शंकराब्द

केशवानन्द देवगोस्वामी · सत्र संस्कृतिर रूपरेखा, पाठशाला, 1973

गुणाभिराम बरुवा : असम बुरंजी, गुवाहाटी, 1972 (प्र. सं , 1884)

डिम्बेश्वर नेओग : वैष्णव धर्मर आतिगुरि, गुवाहाटी, 506 शंकराब्द

दैत्यारि ठाकुर : महापुरुष श्रीशंकरदेव आरु श्रीमाधवदेव चरित, नलबारी, 1957

पुआराम महंत : बरदोवा गुरुचरित (स. महेश्वर नेओग), गुवाहाटी 1977

पूर्णानन्द गोस्वामी (स): श्रीश्री माधवदेवर वाक्यामृत, गुवाहाटी, 1959

वाणीकान्त काकति · पुरणि असमीया साहित्य, गुवाहाटी, 1950

: पुरणि कामरूपर धर्मर धारा, गुवाहाटी, 1955

बापचन्द्र महंत · महापुरुष शंकरदेव, जोरहाट, 1964

. भारतीय धर्मर साधना, जोरहाट, 1967

. नामघोषा तत्त्व दर्शन, जोरहाट, 1978

बिरंचि कुमार बरुवा : असमिया भाषा आरु संस्कृति, गुवाहाटी, 1963

भूषण द्विज . महापुरुष शंकरदेव, (स दुर्गाधर बरकाकति), जोरहाट, 1925

महेश्वर नेओग · श्री श्री शंकरदेव, गुवाहाटी, 1963 (च. सं.)

: असमीया साहित्यर रूपरेखा, गुवाहाटी, 1964

: कीर्तन घोषा (सं.) गुवाहाटी, 1965

: पवित्र असम (सं), गुवाहाटी, 1968

: पुरणि असमीया समाज आरु संस्कृति, गुवाहाटी, 1971

: प्राच्य शासनावली, गुवाहाटी, 1974

रघुनाथ और शिष्ट महंत . कथा रामायण (सं सत्येन्द्र नाथ शर्मा), 1958

रानमोहन नाथ (स ' बरगीत गुवाहाटी 474 शंकराब्द

भक्ति रत्नाकर शिनाग 1950

रामचरण ठाकुर : गुरुचरित, नलबारी, 519 शकराब्द, द्वि. सं

लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा : शंकरदेव, जोरहाट, 1945

: महापुरुष श्रीशंकरदेव आरु श्री माधवदेव, गुवाहाटी, 1963

हरिनारायण दत्तबरुवा (सं) : श्री शंकर वाक्यामृत, नलबारी. 1964

: प्राचीन कामरूपीय कायस्थ समाजर इतिवृत्त, नलबारी, 1941

हरिश्चन्द्र भट्टाचार्य : असमीया नाट्य साहित्यर जिलिङ्नि, गुवाहाटी, 1968

सत्येन्द्र नाथ शर्मा : असमीया साहित्यर इतिवृत्त, गुवाहाटी, 1965

सूर्यकुमार भुञा (सं.) : कामरूपर बुरंजी, गुवाहाटी, 1958

: असमर पद्य बुरंजी, गुवाहाटी 1964

तुङखुङिया बुरंजी, गुवाहाटी 1964

हिन्दी

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी : गोस्वामी तुलसीदास, वाराणसी, 1956

इन्द्रनाथ मदान : तुलसीदास-चिंतन और कला, दिल्ली, 1965

उदयभानु सिंह : तुलसी काव्य मीमांसा, दिल्ली, 1966

: तुलसी दर्शन मीमांसा, लखनऊ, 2018

केशव प्रसाद सिंह और
वासुदेव सिंह (सं) : तुलसी संदर्भ और दृष्टि, वाराणसी 1974

कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' : हिन्दी साहित्य- युग और धारा, पटना, 1966

: अलंकार विमर्श, पटना, 1968

: सूरदास और शंकरदेव के कृष्ण भक्ति काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन (डी लिट् शोध-प्रबंध, टंकित), बिहार, 1973

: शंकरदेव- साहित्यकार और विचारक, पटियाला, 1977

गया सिंह : तुलसी साहित्य की

वाराणसी 1973

गोपीनाथ तिवारी (सं) : तुलसीदास विभिन्न दृष्टियों के परिप्रेक्ष्य वाराणसी, 1973

जगदीश शर्मा : वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस - सौंदर्य विधान का तुलनात्मक अध्ययन गुलाबपुर, 1969

जगदीश गुप्त : गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण काव्य इलाहाबाद, (प्र स)

जनक अरविन्द : असम की गोद में, दिल्ली, (प्र. स)

धर्मदेव तिवारी . हिन्दी और असमी के पौराणिक नाटक आगरा, (प्र सं)

नगेन्द्र (सं) . हिन्दी साहित्य का इतिहास, नई दिल्ली 1978

नगेन्द्र और रमानाथ त्रिपाठी (सं.) . रामचरितमानस- तुलनात्मक अध्ययन दिल्ली, 1974

नंदकिशोर तिवारी . तुलसी साहित्य में माया, बिहार, 1969

नारायण सिंह क्रांतिकारी तुलसी, प्रयाग, 1964

: क्रांतिदर्शी कवि तुलसी, प्रयाग, 1974

प्रेमशंकर : राम काव्य और तुलसी, नई दिल्ली, 1977

फादर कामिल बुल्के : राम कथा, प्रयाग, 1971

बलदेव प्रसाद मिश्र : तुलसीदास, प्रयाग, 1968

भगवती प्रसाद सिंह : राम काव्यधारा-अनुसंधान एवं अनुचिन्तन

भगीरथ मिश्र : तुलसी रामायण, इलाहाबाद, 1968

भूपेन्द्र नाथ रायचौधरी : असमिया लोकसाहित्य की भूमिका, गुवाहाटी, 1979

माताप्रसाद गुप्त : तुलसीदास, प्रयाग, 1963

: तुलसी ग्रंथावली (सं) प्र. और द्वि. खण्ड इलाहाबाद

: श्रीरामचरितमानस, इलाहाबाद 1949

मुशीराम शर्मा - तुलसी का मानस कानपुर

राजपति दीक्षित : तुलसीदास और उनका युग, वाराणसी 2009 सं

राजकुमार पाण्डेय : रामचरितमानस का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन, कानपुर 1963

: गोस्वामी तुलसी दास-प्रबंधकार एवं संगीतकार, दिल्ली, 1974

राजाराम रस्तोगी : तुलसीदास- जीवनी और विचारधारा, कानपुर

रामचन्द्र शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास,वारणसी, 2033 सं

: तुलसी ग्रंथावली (खण्ड 1-4) स, काशी, 2033 सं

रामरतन भटनागर : तुलसी साहित्य की भूमिका, इलाहाबाद, 1966

रामदत्त भारद्वाज : गोस्वामी तुलसीदास, दिल्ली, 1962

रामदास गौड़ : श्रीरामचरितमानस की भूमिका वाराणसी, 1950

रामकिंकर उपाध्याय : मानस मुक्तावली (ख 1-4), कलकत्ता, 1975

राम प्रसाद मिश्र : श्रीरामचरितमानस का योगाध्यात्मिक विवेचन, इलाहाबाद, 1975

रांगेय राघव : तुलसीदास का कथा शिल्प, दिल्ली, 1956

रामनरेश त्रिपाठी : तुलसीदास और उनकी कविता, प्रयाग, 1958

राम प्रकाश अग्रवाल : वाल्मीकि और तुलसी, मेरठ, 1966

रामलाल सिंह : तुलसी- काव्य दर्शन, इलाहाबाद, 1972

वचनदेव कुमार : तुलसी के भक्त्यात्मक गीत, पटना,1964

: रामचरितमानस में अलंकार योजना, पटना, 1971

: तुलसी-विविध संदर्भ में, नई दिल्ली, 1977

विमल कुमार जैन : तुलसीदास और उनका साहित्य, देहरादून, 1968

वियोगी हरि स : विनय पत्रिका [illegible] 977